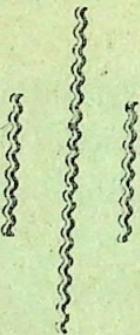


# मूर्तिपूजा-विज्ञान



जाकी रही भावना जैसी ।  
प्रभुमूरती देखी तिन तैसी ॥



प्राध्व पुस्तकालय  
धर्मधाम, कमलानगर देहली

# विषय-सूची

क्रमांक	पृष्ठांक
१-उपासना की आवश्यकता	२
२-उपासना के नौ भेद	३
३-उपासना क्यों करनी चाहिये ?	४
४-उपासना मानसिक रोगों की चिकित्सा	६
५-आध्यात्मिक रोग अनुभव क्यों नहीं होते	८
६-क्या काम क्रोधादि रोग हैं ?	९
७-ईश्वरोपासना की इच्छा क्यों नहीं होती ?	११
८-उपासनासे आधिप्रां को शान्ति कैसे ?	१२
९-शब्दस्कोट का प्रत्यक्ष प्रभाव	१२
१०-विभिन्न देवताओं की उपासना क्यों ?	१५
११-पंच-देवोपासना क्यों ?	१७
१२-अनन्य उपासना का रहस्य	१७
१३-पांच ही देवता प्रधान क्यों ?	१८
१४-ईश्वर की आराधना में उपासना का स्थान	२३
१५-उपासना के नौ भेद क्यों ?	२५
१६-प्रतिमा-पूजन क्यों ?	२६
१७-मूर्तिपूजा—वैदिक स्वरूप	२८
१८-शास्त्रीय विवेचन	३०
१९-प्रतिमा पूजन का मनोवैज्ञानिक रहस्य	३४
२०-प्रतिमा अनिवार्य क्यों ?	३६
२१-कौन प्रतीक हो ?	३८



# मूर्तिपूजा-विज्ञान

लेखकः—

पं० माधवचार्य शास्त्री

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्तच (वेद)

प्रकाशकः—

माधव पुस्तकालय

धर्मधाम कमलानगर, देहली

मुद्रकः— श्रीकरण शास्त्री बी०४०

धर्म प्रेस कमलानगर, देहली

२२—ध्यान करने की गुरुगम्य विधि	४२
२३—शिवलिङ्ग शालिग्राम को हाथ पांव क्यों नहीं ?	४७
२४—गोल मटोल क्यों ?	४८
२५—तुलसी आदि अमुक द्रव्य क्यों ?	४९
२६—अमुक देव पर अमुक द्रव्य क्यों नहीं ?	५०
२७—उपासना कैसे करें ?	५२
२८—किस पर क्या चढ़ायें ?	५३
२९—आरती में सृष्टि-प्रक्रिया	५४
३०—शङ्ख बजाने से क्या लाभ ?	५६
३१—शङ्ख का जल क्यों छिड़का जाए ?	५७
३२—आरती कितनी बार और क्यों घुमानी ?	५८
३३—आरती क्यों ले ?	६०
३४—चरणमृत क्यों ले ?	६१
३५—शास्त्रीय-स्वरूप	६२
३६—वैज्ञानिक विवेचन	६३
३७—क्या भगवान् खाते हैं ?	६५
३८—खाते हैं तो घटता क्यों नहीं ?	६८
३९—उपसंहार	६९



# दो शब्द

मूर्तिपूजा ( Idol-worship ) संसार में ईश्वर पूजन का मनोवैज्ञानिक साधन होते हुए भी चिरकाल से विवाद का विषय रही है । हम यदि विशद् दृष्टिकोण से देखें तो सारा ईश्वरवादी जगत् मूर्तिपूजक और मूर्ति-विरोधी दो ही भागों में बटा हुआ है । मूर्तिपूजा प्रणाली को संसार से मिटाने के लिये जितना संघर्ष हुआ, हमारे विचार में अन्य किसी धार्मिक प्रथा के विरुद्ध इतना संघर्ष शायद ही हुआ हो । इसे मिटाने के लिये न केवल इस्लाम की नंगी तलवार सदियों तक चलती रही, ईसाइयों की कुतक जल्पनापूर्ण मीठी छुरी सैकड़ों वर्ष तक चली, किन्तु भारत में वेद की दुहाई देकर मूर्तिपूजा का खण्डन करने वाले दयानिदियों—आर्यसमाजियों का धूआंधार प्रचार भी पचासों वर्ष तक अनथक और अबाधित रूप से इसका विरोध करता रहा । पर मूर्ति पूजा है कि मिटना तो एक ओर रहा, अमर-बेल की भाँति फैलती ही जा रही है, कदली की भाँति इसे ज्यों-ज्यों काटा गया त्यों-त्यों फूलती-फूलती ही गई । न केवल भारत में सहस्रों वर्ष पूर्व ध्वस्त किये गए सोमनाथ आदि मन्दिरों का पुनर्निर्माण हुआ किन्तु लन्दन, अमेरिका, अफ्रीका आदि विश्व के अन्य भागों में भी सैकड़ों की तादाद में मन्दिरों की नव स्थापना की गई और की जा रही है ।

भारत में आर्यसमाज द्वारा मूर्तिपूजा के विरोध में चलने वाले प्रबल आन्दोलन और विरोध को अपनी शास्त्र-तर्क विमि-

श्रित एक ही चुटकी से धराशायी बना देने और इस विरोध-कालीय-नाग के फण को सर्वदा के लिये कुचल देने का श्रेय 'माधव' को ही है ।

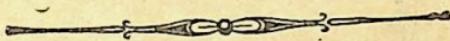
दक्षिण हैदराबाद के मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ में श्री आचार्यजी के प्रबल शास्त्र-प्रमाणों और अकाण्ड्य युक्तियों के समक्ष निरुत्तर हो प्रतिपक्षी आर्य नेता पं० बुद्धदेव विद्यालंकार द्वारा स्वपक्ष को यथा-तथा बचाने के उद्देश्य से श्री स्वामी दयानन्द जी की मूर्ति पर जूता प्रहार करना, उसके बाद इस घटना को लेकर आर्य-समाजियों की बौखलाहट तथा उत्तेजना—इस आनंदोलन नाटक की अन्तिम घटना साचित हुई और इसने मूर्तिपूजा विरोध को सर्वदा के लिये समाप्त कर दिया । आज तो आजीवन मूर्तिपूजा विरोध करते रहने वाले—लाला लाजपतराय, देशबन्धु गुप्ता आदि की न केवल मूर्ति ( Statue ) ही स्थापित की जा रही हैं अपितु उनकी जयन्ती आदि के अवसर पर लोग एकत्रित हो उनके गलों में फूल मालाएं पहिनाकर अपनी श्रद्धा भी व्यक्त करते हैं । जादू वह जो सिर चढ़ बोले के अनुसार क्या मूर्तिपूजा का निराला करिश्मा नहीं है ?

प्रस्तुत पुस्तक में मूर्तिपूजा पर तो सभी दृष्टिकोणों से विचार किया ही गया है किन्तु शंख, आरती, जल-सेचन, भोग राग आदि मन्दिर सम्बन्धी अन्य समस्त प्रक्रियाओं पर भी लेखक ने विज्ञानपूर्ण प्रकाश डालकर इसे अपने विषय की अनूठी पुस्तक बना दिया है । आशा है पाठक इससे अधिक से अधिक लाभ उठा सकेंगे ।



श्रीगणेशाय नमः

# मूर्तिपूजा-विज्ञान



भू पादौ यस्य नाभिर्विद्युतिसुरनिलशचन्द्रसूर्यौ च नेत्रे,  
 कर्णविशाः शिरोदौर्मुखमपि दहनो यस्य वासोऽयमव्यिः ।  
 अन्तःस्थं यस्य विश्वं सुरनरखगगो भोगिगन्धर्वदैत्यै-  
 शिवत्रं रम्यते तं त्रिभुवनवपुषं विष्णुमीशं नमामि ॥

—०:४:०—

मनुष्य स्वयं मूर्त है न, इसलिये किसी भी रूप-रंग आकार रहित वस्तु को भी रूप-रंग-आकार-समन्वित अर्थात् मूर्तिमान् बना डालना उसकी सहज प्रवृत्ति है। मानव की इस सहज प्रवृत्ति ने लाखों वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा (Idolworship) को जन्म दिया, और इस पद्धति के सहारे मानव समाज भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हुआ। इससे उसे दो लाभ हुए— एक तो निर्गुण और निराकार से भागने वाला उसका मन इस पद्धति से अपने लक्ष्य पर टिकने लगा और दूसरा इस बहाने से प्रातः सायं एक स्थान पर इकट्ठे होने वाले नर-नारी एकता के सूत्र में बंध कर संगठित समाज की रचना में समर्थ हो सके।

## मूर्तिपूजा—हमारी संस्कृति का अनिवार्य अंग

मानव मन की इस नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण ही मन्दिर और तदन्तरवर्ती मूर्ति=भगवद्विप्रहों का विधि पूर्वक अर्चन, भारतीय संस्कृति के अनिवार्य अंग रहे हैं । आर्यजाति का मूर्तिपूजा ही एक गुण था जिसने देश-विदेशों में होने वाली खुदाई में प्राप्त सहस्रों वर्ष पुराने मन्दिरों और मूर्तियों द्वारा इस जाति के सम्म्य और सुसंस्कृत होने का ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित किया । भूमि में खुदाई द्वारा प्राप्त इन मूर्तियों से ही संसार जान सका, कि आर्य लोग कृप-मण्डूक न थे किन्तु आर्य संस्कृति के गौरवमय आदर्शों को लेकर हजारों लाखों वर्ष पूर्व वे विश्व के समस्त भागों में फैले थे, उन्होंने सर्वत्र अपनी और अपनी संस्कृति की विजय-वैजयन्ती फहराई थी । यदि आर्य जातिमें मूर्तिपूजा की यह प्रथा प्रचलित न होती, मन्दिर और देवालयों के निर्माण का विशेष प्रकार न होता—आजके 'आर्यसमाज मन्दिर' जैसे ही उनके मन्दिर होते—तो खुदाई में प्राप्त सोधारण भवनावशेषों तथा अन्य वस्तुओं को देखकर कौन आर्य जाति के प्राचीन गौरव को जान पाता ।

मूर्तिपूजा भगवदुपासना की प्रथम सीढ़ी है । यह वह सरल पद्धति है जिसके द्वारा सहज ही में हम ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं । गीता में इसी सरलता को ध्यान में रखते हुए भगवान् कृष्णने निर्गुणमें ध्यान जमाने की अपेक्षा मूर्तिमें साकार प्रभु की बांकी भाँकी निहारने के मार्ग की प्रशंसा की है यथा—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त्वेतपाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्धिरवाप्यते ॥ ( गीता १२-५ )

भावार्थ—जो लोग अव्यक्त अर्थात् निराकार ब्रह्म में मन को लगाने का प्रयत्न करते हैं उनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। क्योंकि मनुष्य देहवान् हैं अर्थात् साकार हैं इसलिये अव्यक्त का ज्ञान उन्हें बड़ी कठिनता से होता है ( अतः प्रतिमा में साकार प्रभु की उपासना द्वारा ही कल्याण प्राप्त करना चाहिये ) ।

अब तक जो विवेचना की गई वह तो उन कल्याणाभिलापी जिज्ञासुओं के लिये हुई जो इस मार्ग में प्रवृत्त हैं या होने को उत्सुक हैं, परन्तु आज तो प्रश्न ही और है। आज मूर्तिपूजा और निर्गुण-ध्यान-पद्धति से विलक्षण एक तीसरी ही हवा बह रही है, जिससे प्रभावित जन कहते हैं, कि “उपासना या पूजा की जरूरत ही क्या ? इनमें लगाया गया समय समय की हत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं ।” इस प्रकार के विचार आज आप कहीं भी सुन सकते हैं। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक को अपने विषय की समस्त सन्देहोच्छेदक पुस्तक बनाने के लिये हम उपासना रूप मूल से ही इसका प्रारम्भ करते हैं।

## उपासना की आवश्यकता

‘उपासना’ शब्द का अक्षरार्थ है—उप=समीप में, आसना=स्थिति। अर्थात्—परमात्मा से निकट सम्बन्ध उपस्थापित करना। ‘अण्ड पिण्ड’ सिद्धान्तानुसार भगवान् समस्त शक्तियों का भण्डार है और मनुष्य पदे पदे उन शक्तियों से भीख लेकर ही जीवन निर्वाह करता है। जैसे विजली के ‘पावर हाउस’ से कनकशन मिलाए विना हमारी बत्ती नहीं जल पाती और ना ही पंखा चल पाता है। ठीक इसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक

शक्तियां तभी विकसित हो पाती हैं जब कि हम सर्व-शक्तिमान् परमात्मा से अपना सम्बन्ध स्थापित करें । इसी सम्बन्ध स्थापना का ही अपर नाम है 'उप' अर्थात्—परमात्मा के निकट 'आसना' अर्थात्—संस्थित होना ।

सनातनधर्म में पुरुष की योग्यता को ध्यान में रखकर मुख्यतया नौ प्रकार की उपासना ब्रणाली बतलाई गई है जिसको 'नवधा-भक्ति' के नाम से स्मरण किया जाता है । इन नवों भेदों के नाम ये हैं,—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ।

## उपासना क्यों करनी चाहिये ?

( भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चछद्यन्ते सर्वसंशयाः )

यहां यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि आखीर हमें उपासना करनी ही क्यों चाहिये ? यदि कहा जाए कि परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये !—तो इस उत्तर से भगवान् भी लौकिक पुरुषों की भाँति प्रशंसा मुनने का शौकीन सिद्ध होने लगता है । यदि कहा जाए कि हम प्रभु के जैसे गुणों का स्मरण और मनन करते हैं, जो नाम जपते हैं वही गुण हम में विकसित हो जाते हैं तो आर्य समाजियों के शब्दों में—'गुड़ कहने से जिह्वा मीठी क्यों नहीं होती ? और 'अग्नि' शब्द का जाप करने से जीभ क्यों नहीं जल जाती ?—इस प्रकार सभी मत-मतान्तर-वादी उपासना का जो भी प्रयोजन बताने चलेंगे उससे वे स्वयं ही अपने बनाए जाल में फँस जाते हैं ।

उपासना क्यों करनी चाहिये ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर सनातन धर्म यह देता है कि आप वैद्य, हकीम और डाक्टर की उपासना क्यों करते हैं ? प्राड़-विपाक, मुख्तार और वकील की उपासना क्यों करते हैं ? कम से कम दोनों समय तुले तुलाए तीन पाव अन्न भगवान् की उपासना क्यों करते हैं ?

इन समस्त प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है, हम जब बीमार होते हैं मजबूरन वैद्य, हकीम ढंडने पड़ते हैं और मुकदमे में फंस जाते हैं तो वैरिस्टर साहब के कमरे की खाक छानने के लिये विवश होते हैं, भूख के लिये अन्न और मल के परित्याग के लिये शौचालय देखना पड़ता है । बस जैसे अपनी अड़ी हुई बात ठीक करने के लिये पुरुष भूख मार कर अमुक २ पुरुषों पदार्थों और तुच्छातितुच्छ द्रव्यों की उपासना करने के लिये वाध्य हैं, इससे भी कहीं अधिक विवशता से वह ईश्वर की उपासना करने के लिये लाचार है ।

डाक्टर और वकील चाहे हजार बार भी चाहें कि कोई आसामी आए, पर हम केवल उनकी इच्छा पूरी करने के लिये जान वूझ कर रुग्ण और अभियुक्त बनने को प्रस्तुत नहीं होते । किन्तु जब हमारा अपना प्रयोजन आ पड़ता है तभी हम असामी बनते हैं । ठीक इसी प्रकार भगवान् दिन रात भी चाहें कि जीव मेरी शरण में आएं परन्तु हम हतभाग्य तब तक उधर अपना मुख भी करने को तैयार नहीं होते जबतक कि हमारा अपना काम न अटका हो । सो भूख लगते ही हम अन्न-भगवान् की शरण में जाते हैं, प्यास लगते ही श्री वरुणदेव को ढंडते हैं, शीत लगते ही अग्नि की उपासना करते हैं, गर्भ से पीड़ित होते ही वायुदेव का आश्रय लेते हैं । इसलिये हमारा उत्तर है कि

उपासना भगवान् के किसी लाभ के लिये नहीं है, किन्तु यह तो जीव के ही अपने लाभ के लिये है । हमारी प्रार्थना सुनकर भगवान् फूल कर कुप्पा नहीं होते और यदि हम उपासना न करें तो वे दुबले नहीं पड़ते, किन्तु वह तो दोनों ही दशाओं में निर्लेप और निरबृजन बने रहते हैं हाँ, उपासना द्वारा मनुष्य अवश्य ऐसी शक्ति और महत्ता प्राप्त कर लेता है जो उसे संसार में और किसी प्रकार न मिल सकती ।

## उपासना भानसिक रोगों की चिकित्सा ।

( सर्वद्वन्द्वविनिमुक्तिः )

‘अण्डपिण्डवाद’ के अनुसार हम कह सकते हैं कि यह केवल जड़ शरीर ही हम नहीं हैं किन्तु हमारा एक दूसरा चैतन्यरूप भी है जिसके आश्रय से यह जड़ रिण्ड प्रगतिशील बना हुआ है । हमारे शरीर में ज्वर, शोथ, पाण्डु, जलोदर, कास श्वास, क्षय, अर्श और भगन्दर आदि अगणित व्याधियें होती हैं और सदैव कोई न कोई बनी ही रहती है । इसी प्रकार हमारे आध्यात्मिक कलेवर में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, दम्भ, द्रेष राग, अनुराग, संकीर्णता छङ्ग, प्रतारणा, प्रमाद, दुराप्रह और आलस्य आदि २ अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । शारीरिक रोगों का नाम शास्त्रकारों ने ‘व्याधि’ रखा है और आध्यात्मिक रोगों का नाम ‘आधि’ । अमर कोश-कार प्रसिद्ध विद्वान् कहते हैं कि—‘आधिर्मानसी व्यथा’ अर्थात्—मानसिक व्यथाका नाम ‘आधि’ है । वाग्भट्टसंहितामें लिखा है कि—

रजस्तमश्वमनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ । २१ ॥

धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनो दोषोषधं परम् ॥ २६ ॥

अर्थात्—रजोगुण और तमोगुण ये दो मन के दोष हैं । बुद्धि, धैर्य, और आत्मज्ञान ये तीन मनके रोगों की सर्वोत्तम औषध हैं । सो जैसे शारीरिक रोगों को दूर करने के लिये तत्त्व उपचारों की आवश्यकता है ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक रोगों की निवृत्ति के लिये 'उपासना' की आवश्यकता है । जैसे रोग अनेक हैं तो उनकी औषधियें भी अनेक हैं, किस रोगी को कौन औषधि देनी चाहिये वह निर्णय केवल सुयोग्य वैद्य ही कर सकता है, ऐसे ही सनातनधर्म में भी उपासनामार्ग का निर्णय करना भी गुरुदेव के आधीन है । साधक को चाहिये कि वह किसी सुयोग्य गुरु को ढंड कर उसके सामने अपने समस्त आध्यात्मिक रोगों का विना सङ्कोच वर्णन कर दे । तब सुयोग्य चिकित्सक की भान्ति आध्यात्मिक रोगों का पारदृश्य अनुभवी गुरु साधक की योग्यता के अनुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि जिस भी औषधि को उपयुक्त समझेगा उसके सेवन का परामर्श देगा ।

प्रसिद्ध है कि देवर्षि नारद जी ने जब वाल्मीकि जैसे असाध्य आधि से पीड़ित व्याध की चिकित्सा आरम्भ की तो उसे 'राम' नाम जैसी पेटेन्ट सर्व-रोगहर औषधि की मात्रा के योग्य भी न समझा । अतः उसे 'मरा' की ही पुड़िया दी, और उसी से 'वाल्मीकि से ब्रह्म समाना' हो गये । सो सनातनधर्म में उपासना प्रणाली की प्राकृतिक चिकित्सा को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये उसका आधार 'गुरुशिष्य सम्प्रदाय' पर स्थिर किया गया है । इसलिये उपासना क्यों करनी चाहिये ?' इसका उत्तर है कि—आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिये ।

# आध्यात्मिक रोग अनुभव क्यों नहीं होते ?

( दिवान्धाः प्राणिनः केचित् )

यहां जिज्ञासा हो सकती है कि यदि सचमुच काम क्रोधादिक रोग हैं तो वे हमें प्रतीत क्यों नहीं होते ? इसे यहां यो समझना चाहिये कि मनुष्य उन्हीं रोगों को अधिक अनुभव करता है जो कि एकदम भयानक रूप से मनुष्य पर आक्रमण करते हैं और जिनसे दैनिक व्यवहारमें कुछ अड़चन पड़ जाती है, जैसे—ज्वर, उदरशूल, शिरदर्द आदि २। परन्तु वह उन रोगों को भट्टित अनुभव नहीं कर पाता जो कि शनैः २ मनुष्य के शरीर में पैठकर घुन की भान्ति अन्दर ही अन्दर उसे जीर्ण-शीर्ण और मृत्यु का ग्रास बना देते हैं, जैसे—शोष, भगन्दर, नाशूर, न्यय, तपेदिक आदि । कहना न होगा कि शारीरिक रोगों में न्यय=तपेदिक आदि दूसरी श्रेणी के रोगों को अधिक खतरनाक समझा जाता है । वस्तुतः इन रोगों के बद्धमूल हो जाने का कारण ही यह है कि दुर्भाग्यवश ये रोग जब पहिले पहिल किसी को लगते हैं तो वह रोगी महीनों क्या वर्षों तक तो स्वयं यह समझ ही नहीं पाता कि 'मैं रोगी हूं' ।

इसका कारण स्पष्ट है कि ये न्यायादिक रोग इतनी मन्थर गति से मानव पिण्ड में प्रविष्ट होते हैं कि रोगी अपने को रोगी ही नहीं अनुभव करता । क्योंकि उसकी दिनचर्या में इनसे इतनी रुकावट नहीं पड़ती । आधा प्वाइण्ट ज्वर हुवा, पर नहाते भी रहे, खाते भी रहे, कार्य व्यवहार भी चलता रहा । सैरंसपाटे में भी कुछ रुकावट नहीं पड़ती और खी सेवन की प्रवृत्ति तो पहिले से भी अधिक बढ़ गई । अब ऐसी स्थिति में रोगी अपने को रोगी क्यों

समझने लगा और वर वालों को भी चिन्ता क्यों होने लगी ? तात्पर्य यह है कि जैसे एक सौ चार छिंग्री ज्वरग्रस्त पुरुष स्वयं भी बड़ा उठता है और अभिभावक भी सब काम छोड़कर तत्परता से उसकी चिकित्सा करवाते हैं, इसके सर्वथा विपरीत तपेदिक रोग के आरम्भिक महीनों में रोगी और अभिभावक दोनों ही वेखबर रहते हैं । कहना न होगा कि इस रोग में लापरवाही का प्रधान हेतु उक्त रोग की सूक्ष्मता ही है । अर्थात् यह इतनी थोड़ी मात्रामें प्रादुर्भूत होता है कि सर्व साधारण इसे अनुभव ही नहीं कर पाते । सो सब से बड़ा खतरनाक रोग कौन ? — यह कि जिस से पीड़ित स्वयं रोगी भी अपने को रोगी अनुभव न कर सके ।

काम क्रोध लोभ मोहादि आध्यात्मिक रोग भी इतने ही सूक्ष्मतर हैं । यद्यपि वे हमें लगे रहते हैं परन्तु हम उनकी सूक्ष्मता के कारण उन्हें अपने में अनुभव नहीं कर पाते । इसी लिये उनकी चिकित्सा की भी परवाह नहीं की जाती, परन्तु हमारे इस प्रमाद का वही परिणाम होता है जो कि तपेदिक के रोगी का होता है । जैसे निश्चित ही असाध्य दशा में पहुंचे ज्य रोग ग्रस्त मनुष्य की शारीरिक मृत्यु हो जाती है ठीक वैसे ही काम क्रोधादि आधियों से पीड़ित पुरुष की भी आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है ।

**क्या काम क्रोधादि रोग हैं ?**

**( काम आदि घातक भवरोगा )**

प्रश्न हो सकता है कि क्या काम, क्रोधादिक भी कोई रोग हैं ? हम कहेंगे हाँ ! न केवल रोग ही हैं अपितु अत्यन्त कष्ट-

साध्य खतरनाक महारोग हैं । सम्भवतः रोगका सर्ववादी-समस्त यही लक्षण बन सकता है कि जिसके आक्रमण से स्वस्थ-प्रकृतिस्थ मनुष्य भी नानाविध विकारों का पात्र बन जाए, वही रोग है । कहना न होगा कि जैसे ज्वरार्त मनुष्य की बोल चाल, मुखाकृति, नाड़ी और हृदय की धड़कन सब कुछ बदल जाती है ठीक इसी प्रकार क्रोध के आवेश में भी उपर्युक्त सभी लक्षण ज्यों के त्यों क्रोधी में दीख पड़ते हैं । कामचेष्टा में व्यासक्त मनुष्य की यदि अन्तिम परिणाम पर पहुंचने के समय परीक्षा की जाए तो उसमें निस्सन्देह ज्वरार्त मनुष्य के समस्त लक्षण घटित होते दीख पड़ेंगे । वही नाड़ी की तीव्र गति, वही हृदय की आतङ्कपूर्ण विषम धड़कन, वही श्वासोन्छावास का प्रबल वेग और वही अङ्गशैथिल्य एवं अवसाद । गर्ज है कि भयङ्कर ज्वर वेग और कामादि के वेग में कुछ भी अन्तर नहीं ।

लोभ मोह आदि रोग क्या और दिक की भान्ति सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने के कारण रोगी को स्वयं अनुभव नहीं होते परन्तु वस्तुतः हैं वे कामक्रोधादि से भी अत्यधिक खतरनाक । क्योंकि जैसे प्रबल ज्वरार्त को घर वाले या अन्य कोई भी देखने वाला दयालु मनुष्य संभालने की चेष्टा करता है ठीक इसीप्रकार क्रोधी को तो शान्त करने के लिये अनेकों लोग बलात् पकड़ कर भी रोक थाम के लिये इकट्ठे हो जाते हैं । कामासक्त को भी गो० तुलसीदास की धर्मपत्नी की भान्ति बहुतसी धर्मपत्नियें ही समझा बुझा लेती हैं परन्तु लोभ मोहादिक खतरनाक रोग का तो पड़ौसियाँ को भी बिना वास्ता पड़े पता नहीं चलता इसलिये ये और भी अधिक असाध्य हैं ।

## ईश्वरोपासना की इच्छा क्यों नहीं होती ?

(न शां इष्टुतिनो मृदाः प्रपद्यन्ते नराधमाः)

शान्त्र, गुरुजन, आस्तिकजन अहर्निश ईश्वरोपासना के लिये प्रेरित करते हैं, स्वयं अपना अन्तरात्मा भी उपासना को लाभप्रद मानता है तथापि न जाने क्यों ईश्वरोपासना की इच्छा नहीं होती—यह क्यों ? बात बहुत सीधी है—जैसे ज्वर के अंशमें अन्न में असुख हो जाती है, चाहता हुवा भी मनुष्य अन्न नहीं खा पाता ठीक इसी प्रकार चाहते हुवे भी ईश्वर उपासना की अभिरुचि न होना यह लक्षण भी आध्यात्मिक रोग की विद्यमानता का प्रधान प्रमाण है । सो जैसे शारीरिक जीवन के लिये अत्यावश्यक अन्न में भी अभिरुचि न होना—यह सिद्ध करता है कि तादृश पुरुष रोगप्रस्त है और उसे तत्परता पूर्वक अपनी चिकित्सा करानी चाहिये, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवन के लिये अतीव अनिवार्य ईश्वर उपासना में भी अभिरुचि न होना इस बातका सुस्पष्ट सङ्केत है कि तादृश व्यक्ति को अविलम्ब अपनी आध्यात्मिक चिकित्सा करानी चाहिये । जैसे ज्वर शान्त हो जाने का यह सर्वविदित लक्षण है कि ‘अब भूख लगने लगी है, वैसे ही आध्यात्मिक रोग की निवृत्ति का भी यह प्रधान लक्षण है कि अब ईश्वर उपासना में मन लगने लगा है । जैसे भूख लगने के लिये भी ज्वर की औपचिका तत्परता पूर्वक सेवन करना ही एकमात्र उपाय है ठीक इसी प्रकार ईश्वर की उपासना में अभिरुचि बढ़ाने का उपाय भी ईश्वर की उपासना ही है ।

## उपासनासे आधियों की शान्ति कैसे ?

(मोरे भजन मिटहि भवरोगा)

यहां पूछा जा सकता है कि श्रवण कीर्तन आदि से कामादि आधियें कैसे शान्त हो जाएंगी ?—यह 'भावनावाद' से स्पष्ट सिद्ध है कि श्रद्धा और विश्वास पूर्वक जब ईश्वर के गुणों का श्रवण कीर्तन और स्मरण किया जाएगा तो उससे एक ऐसी दृढ़ भावना का जन्म होगा कि जिससे न केवल उपासक की अपनी ही काम क्रोध आदि आधियें उपशान्त हो जाएंगी, अपितु उस व्यक्ति के निकट सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्तियों की भी ये बीमारियां समूल नष्ट हो जाएंगी । पिछले प्रघट्टों में 'वातावरण' का विवेचन करते हुवे यह सिद्ध किया जा चुका है कि हमारे विचारों का भी वायुमण्डल पर समुचित प्रभाव पड़ता है । फिर जब एक साधक वार २ भगवान् के दयालुतापूर्ण, न्यायानुमोदित, वात्सल्य-परिप्लुत पवित्र चरित्र सुनेगा तो उसके हृदयाकाश में तादृश दया, न्याय, वात्सल्य आदि गुणों का प्रादुर्भाव क्यों न होगा ?

## शब्द स्फोट का प्रत्यक्ष प्रभाव !

( वाड्मूला नियताः सर्वे )

गुड़ २ कहने से मुंह मीठा न होने का कुर्क बहुत लचर है, क्यों कि वास्तव में जब कभी भी मुंह मीठा होगा तब आरम्भ में गुड़ २ कह कर ही दुकानदार से उसे खरीदा जाएगा, घरवाली से मांगा जाएगा । यदि महाशय जी मूँक होंगे तो सङ्केत द्वारा गुड़ कहा जाएगा । गर्ज है कि न केवल मुंह मीठा करने के लिये ही

गुड़ शब्द के उच्चारण की आवश्यकता है, अपितु संसार का यावन्मात्र व्यवहार शब्दमूलक है। इसीलिये वैदिक विज्ञान में शब्द से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव माना है। सृष्टि के प्रधान पांच तत्त्वों में सब का आदिम पिता शब्द-गुणक आकाश ही है। प्रलयानन्तर खाली पोल में शब्द गुण की व्याख्यता आते ही उसकी संज्ञा 'आकाश' हो जाती है, यही आकाश फिर बायु आदि तत्त्वों का प्रसव करता है। हमारा दावा है कि संसार में प्रत्येक वस्तु शब्द के सांचे में ढल कर जिह्वा पर आने पर ही व्यवहार जगत् में देखी जा सकती है अन्यथा नहीं।

भारत के स्वनाम-वन्य वैज्ञानिक युवक श्री हंसराज वायरलैस ने पिछले दिनों देहली प्रदर्शनी में अपने कुछ वैज्ञानिक चमत्कार सबको प्रत्यक्ष दिखाए थे। उनमें एक यह भी चमत्कार था कि हाथ से विजली के स्थिति को न दबाकर केवल जिह्वासे लाइट शब्द बोलते ही वत्ती जग जाती थी, पंखा घूमने लग जाता था। यह युवक सनातनधर्म हाई स्कूल लायलपुर में पढ़ता रहा, मैं भी वहां धर्म शिक्षा विषय के व्याख्याता के रूप में उन दिनों सेवा करता हा हूँ। अतः इस युवक ने बताया कि जिह्वा से शब्द निकलते ही थर में तरंगें उत्पन्न होती हैं, मैंने अपनी वत्ती के स्थिति को उन रङ्गों से सम्बन्धित कर दिया है, परन्तु उसमें यह ध्यान रक्खा राया है कि प्रत्येक अक्षर के उच्चारण ( प्रोनन्सियेशन ) से समान रंगें उत्पन्न नहीं होती किन्तु जिह्वा के स्फोट के अनुसार भिन्न भिन्न तरह की तरंगें बनती हैं। मैंने 'लाइट' शब्द के स्फोट से उन्ने वाली तरङ्गों के ही साथ इसे संयुक्त किया है, अतः इसी शब्द के बोलने से जल सकेगी अन्य से नहीं। किन्तु यदि मैं चाहूँ तो इसे हिन्दी के विद्युत शब्द से भी सम्बन्धित कर सकता हूँ।

हमारे महर्षियों ने इस विज्ञान को बहुत गहराई तक समझा था अतः वे पूरे शब्दों के भी उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं समझते थे किन्तु किसी एक ही अक्षर से नानाविध प्रयोगन सिद्ध कर लेते थे । इसी सिद्धान्त के आधार पर तो हमारे यहां 'बीज मन्त्रों' का प्रादुर्भाव हुआ है । कहने को तो ३०, ऐं, हीं, क्लीं आदि एक निर्थक अक्षर हैं परन्तु वस्तुतः इनमें से किसी एक के भी उच्चारण मात्र करने से वातावरण में वह विलक्षण स्फोट उत्पन्न होता है कि जिससे साधक जो चाहे सो लाभ उठा सकता है । गोस्यामी तुलसीदास जी ने इस तत्त्व को खूब पहचाना था तभी तो अपने ग्रन्थ रामायण में—

अर्नामल अक्षर अर्थ न जापू ।

प्रकट प्रभाव भेदश प्रतापू ॥

—कहते हुवे सावर मन्त्रों की चमत्कारपूर्ण महिमा का बखान किया है । सो अग्नि कहने से जीभ क्यों नहीं जलती ? यह उस युगकी अशङ्का थी जब कि वर्तमान भौतिक विज्ञान ने सनातनधर्म के सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया था । अब यदि कोई ऐसी कूप मण्डूकतापूर्ण हुड्जत करे तो उसे फौरन पागलखाने भेजने का प्रबन्ध किया जा सकता है । आज तो अग्नि कहने से न केवल जिह्वा, अपितु शङ्कालु महाशयों का पूरा का पूरा किला भस्म किया जा सकता है । युद्ध या विप्लवादि के समय नायक के मुख से 'फायर' निकलते ही अग्नि वर्षा शुरू हो जाती है ।

विश्ववन्द्य श्री गान्धी जी के नेतृत्व में भारतीयों ने जब अंग्रेजोंके लिये 'भारत छोड़ो' नारा बुलन्द किया था तो उसदिन के वायसराय लार्ड वेवल ने हमारा उपहास करते हुवे कहा था

कि यह नारा अली बाबा के 'खुल सम सम' जैसा कोई चमत्कार नहीं है जो इसके कहने मात्र से भारत से अंग्रेज भाग जाएंगे ! परन्तु मिस्टर वेवल को क्या मालूम था कि जब चालीस करोड़ भारतीय संयुक्त रूप से 'भारत छोड़ो' कहेंगे तो इससे यहां का समस्त वातावरण ही ऐसा बन जाएगा कि जिससे अंग्रेजों का अन्तरात्मा स्वयं यहां न रहने के लिये उतावला हो जाएगा । यह इस युग में प्रत्यक्षहष्ट एक जीता जागता सामूहिक उद्घोष का चमत्कार पूर्ण उदाहरण है । इसलिये श्रवण, कीर्तन, रमरण आदि उपासना प्रणालियों द्वारा साधक अपने आध्यात्मिक रोगों की सम्यक् चिकित्सा कर सकता है—इसमें क्या सन्देह ?

लोक में शारीरिक रोगों को दूर करने के लिये जैसे सद्वैद्य सत् प्रथत्न, सद् औषधि और सदुपचार यदि प्रारब्धवश उपलब्ध हो जाए तो फिर भगवत् कृष्ण से रोगशान्ति की भी आशा बन्ध जाती है, ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिये भी सद्गुरु, सत्सङ्ग, सदुपासना और सदाचार के सेवन से अवश्य ही मनुष्य का कल्याण हो जाता है ।

## विभिन्न देवताओं की उपासना क्यों ?

( यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति )

जब एक परमात्मा ही सर्व शक्तियों का भण्डार है और उस की ही उपासना से सब कुछ प्राप्त हो जाता है फिर चक्रवर्ती को छोड़ कर द्वारपालों की क्यों खुशामद की जाए ? अर्थात् विभिन्न देवताओं की उपासना क्यों की जाए ?

‘अण्ड पिण्ड’ सिद्धान्त के अनुसार हमारा यह मानव पिण्ड विभिन्न देवताओं से प्राप्त हुई भीख का परिमाण है। देवता क्या हैं?—यह देवता-विज्ञान प्रघट में प्रकट किया जा चुका है। सो जैसे एक ही भारत सरकार के डाकखाना वैंक, कचहरी आदि अनेक विभाग=महकमे विद्यमान हैं, परन्तु जिसको पोस्टकार्ड लिफाफे, मनीआर्डर आदि कार्यों की आवश्यकता हो उसे भारत सरकार के डाकखाना विभाग की उपासना करनी चाहिये। उसकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति डाकखाने में ही हो सकती है और यदि रूपये पैसे करेन्सी से सम्बन्धित कोई प्रयोजन हो तो फिर उसे भारत सरकार के सुरक्षित कोश (रिजवे बैंक) की उपासना करनी चाहिये। न्याय के इच्छुक को सीधा कचहरी में पहुँचना चाहिये।

वह पुरुष बहुत ही व्यवहारानभिज्ञ एवं मूर्ख समझा जाएगा जो कि पोस्ट कार्ड खरीदने के लिये सीधा प्रधान मन्त्री के कार्यालय में पहुँचे या डाकखाने से न्याय मांगे और कचहरी में मनी-आर्डर कराता फिरे। अन्यान्य सत मतान्तरों में ऐसी ही मूर्खता-पूर्ण चेष्टाएं की जा रही हैं। वे या तो छोटे से छोटे कार्य के लिये भी सीधे महामहिम भगवान् का दर्जा खट खटाते हैं अथवा निराकार से बीबी तलब करते हैं। निर्विकार से पुत्र मांगते हैं और निर्लेप निरञ्जन से धन चाहते हैं। सनातनधर्म की उपासना में यह धांधली नहीं। यहाँ साधक को जो चाहिये उसके अनुसार वैसा ही नाम रूप गुण विशिष्ट भगवान् का एक विप्रह नियत है, वही उपासना विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में ‘देवता’ कहा जाता है।

## पञ्च-देवोपासना क्यों ?

( पञ्चभूतमयो देही )

उनातनधर्म में प्रधानतया विष्णु, सूर्य, शक्ति, शिव और गणेश इन पांच देवताओं की अनन्य उपासना का विधान है। अर्थात्—प्रत्येक व्यक्ति को इन पांचों में से किसी एक देव को अपना इष्टदेव मान कर उसकी ही अनन्य उपासना करनी चाहिये। इसी शास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर वैष्णव, सौर, शक्ति, शैव और गाणपत्य ये पांच मुख्य सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं।

## अनन्य उपासना का रहस्य

आज भले ही मूरखों की दृष्टि में तत्त्व सम्प्रदाय एक दूसरे से लड़ने के अखाड़े समझे जाते हों; विगत शताव्दियों में तत्त्व सम्प्रदाय भेद के नाम पर उपद्रव किये गए हों और अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये तत्त्व ग्रन्थों को भी विकृत करने में कोरकसर बाकी न रखती हो, परन्तु वस्तुतः सम्प्रदाय भेद सुतरां मानव प्रकृति के स्वाभाविक भेद पर ही सुस्थिर किया गया है।

अनन्यता का यह तात्पर्य हरणिज नहीं कि अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य देवताओं को न पूजा जाए या उनको अपमानित किया जाए। गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् रामके अनन्य भक्त थे और इतने कटूर अनन्य भक्त थे कि ब्रजयात्रा के समय श्रीकृष्ण भगवान् को—

‘तुलसी मस्तक तव नमे, धनुषवाण लो हाथ ।’

कहते हुवे धनुषधारी रघुनाथ बनने के लिये विवश कर दिया था, परन्तु उनके ग्रन्थों में शिष्टाचारानुसार गणेश आदि सभी देवताओं की यथावद् वन्दना विद्यमान है। गोस्यामी जी विनय पत्रिका के आदिम पद्य में श्री गणेश की जी वन्दना करते हैं परन्तु उनसे चाहते यही हैं कि—

मांगत तुलसिदास कर जोरे ।  
वसहु रामसिय मानस मोरे ॥

जैसे पतित्रता स्त्री अपने पति की अनन्य पत्नी होती है, परन्तु वह सास ससुर आदि सभी गुरुजनों की यथाविधि सेवा सुश्रूपा करती हुई भी यही वर चाहती है कि—‘अचल होहु अहिवात तुम्हारा, जब लगी गङ्गा जमुन जल-धारा’। ठीक इसी प्रकार अनन्य भक्त को उचित है कि वह शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार समस्त देवताओं का यथायोग्य पूजन सत्कार करता हुवा भी उनसे यही वर मांगे कि—‘मुझे मेरे अमुक इष्टदेव में अटल भक्ति दीजिये’।

कथा प्रसिद्ध है कि एक वैष्णवाचार्य की शोभा यात्रा निकल रही थी। उसी नगर का एक परम विद्वान् श्रीवैष्णव अचानक उस समय लकड़ का गट्ठा शिर पर उठाए सामने से आ निकला और उसने बड़े विनयभाव से उसी दशा में भीड़ चीर कर आचार्य महोदय को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, परन्तु शोभा यात्रा के समय लकड़ का गट्ठा सामने देख कर इस सरल-हृदय वैष्णव को मूर्ख समझ कर आचार्य जी को क्रोध आ गया और आवेश में बोले—तुम कौन हो ? वैष्णव ने कहा—महाराज जी, आप कौन हैं ? आचार्य बोले—हम तो वैष्णव हैं। इस भोले व्यक्ति ने कहा महाराज में भी वैष्णव हूं। आचार्य जी ने फिर कड़क कर पूछा—

कौन वैष्णव ? इसने भी तथैव प्रश्न किया कि श्री महाराज, आप कौन वैष्णव हैं ? वैष्णवाचार्य अभिमान पूर्वक बोले—हम तो 'अनन्य वैष्णव' हैं । इस विद्वान् महात्मा को वैष्णवाचार्य की क्रोध पूर्ण प्रवृत्ति पर कुछ आश्चर्य सा हुवा अतः विनोद पूर्ण भाषा में उत्तर दिया कि 'मैं फनन्य वैष्णव हूँ' । अब तो वैष्णवाचार्य और भी उत्तेजित हुवे और बोले फनन्य वैष्णव कौन होता है ? महात्मा बोले अनन्य वैष्णव कौन होता है ? वैष्णव आचार्य बोले—'जो विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी देवता को न माने वह 'अनन्य वैष्णव' कहा जाता है जैसे हम ! महात्मा बोले—'जो विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी को जाने ही नहीं वह 'फनन्य' वैष्णव होता है, जैसे यह आपका तुच्छसेवक !

कहना न होगा कि इस विनोद पूर्ण उत्तर में अनन्यता का बड़ा भारी रहस्य छुपा है । जो अन्य देवता को नहीं मानते उनके ज्ञान में कम से कम अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्यान्य देवताओं की सत्ता का अस्तित्व तो विद्यमान है, परन्तु जो महात्मा अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य किसी देवता की सत्ता को जानते ही नहीं, अर्थात्—जिन्हें स्वप्न में भी विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य का भान न हो निःसन्देह उनकी अनन्यता बहुत ही स्थृहणीय है । श्री गोस्वामी जी ने भी उत्तम पतिक्रिया वही मानी है जो कि 'सप्नेउ आन पुरुष जग नाहीं' के उच्च आदर्श-नुसार अपने पतिके अतिरिक्त अन्य पुरुष की सत्ता को भी संसार में नहीं जानती हो ।

## पांच ही देवता प्रधान क्यों ?

प्रधानतया पांच ही देवता उपास्य क्यों हैं ?—इस का उत्तर यह है कि यह संसार तीन गुण वाली माया का प्रपञ्च है । माया

के तीन गुणों का व्यास ही पंच महाभूत हैं जैसे— शुद्ध सत्त्व-आकाश । सत्त्व रजः का संमिश्रण—वायु । शुद्ध रजः—अग्नि । रजः तमः का संमिश्रण—आप और शुद्ध तमः—पृथ्वी । अर्थात् इनमें आकाश, अग्नि, पृथ्वी ये तीन तत्त्व विशुद्ध हैं जो सत्त्व रजः तमः के प्रतीक कहे जा सकते हैं । वायु जल दो तत्त्व एक दूसरे के संमिश्रण से उद्भूत हैं । इसी लिये आजके वैज्ञानिक जल को दो गैसोंका परिणाम बताते हैं, वायु के विश्लेषण तक अभी वर्तमान वैज्ञानिकों की पहुँच नहीं है । सत्त्व और तमः के एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण आग और पानी का तरह इन दोनों का संमिश्रण सम्भव नहीं, अतः पांच ही मूल तत्त्व हुवे । सो जैसे ब्रह्माएड में तीन गुणों के तारतम्य से पांच तात्त्वक भेद बन गए हैं, ठीक इसी प्रकार मानव पिण्ड में भी उक्त तीन गुणों से प्रपञ्चित पंच महाभूतों के तारतम्य से पांच भेद पाए जाते हैं, अर्थात् प्रधानतया मनुष्यों के स्वभाव पांच प्रकार के हैं ।

यह प्रकट कर देना अनावश्यक न होगा कि यह सब स्थापना 'प्रधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार ही की जा रही है । क्योंकि साधारणतया तो प्रत्येक वस्तु पंच महाभूतों के संधान से ही बनी है, परन्तु जिस मानव पिण्डमें जो तत्त्व अधिक मात्रा में हैं उसे हम यहां उसी तत्त्व का कह कर पुकारेंगे । जिस पुरुष में आकाश तत्त्व का अधिक्य है वह स्वभावतः सत्त्व गुण सम्पन्न होगा, जिस में वायु-तत्त्व अधिक होगा वह सत्त्व और रजः दोनों गुणों के संमिश्रण से बनी प्रकृति का होगा, और पृथ्वी प्रधान तामसी प्रकृति का प्राणी होगा ।

आयुर्वेद शास्त्र ने अपनी परिभाषा के अनुसार उक्त प्रकृति के तीनों गुणों का नाम वात पित्त और कफ रख छोड़ा है । इसमें

वात=वायु, पित=अग्नि और शेष को कफ कहा जा सकता है। शारीरिक चिकित्सा में सुदृढ़ वैद्य प्रत्येक रोगी की वात पित्त वा कफ संघटित प्रकृति के तारतम्य के अनुसार ही औषधि और उसकी मात्रा की कल्पना करता है। आध्यात्मिक ज्ञेय में इसी प्रकार प्रधानतया विभिन्न पांच प्रकार की विशिष्ट प्रकृति वाले मनुष्यों के आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिये भी सद्गुरु को उचित है कि वह साधक की निजी प्रकृति स्वभाव आदात का मनन करके उसके निमित्त तादृश देवता की उपासना का ही निर्णय करे जिसकी कि उसे आवश्यकता है।

आकाश-तत्त्व के आधिक्य से संघटित सात्विक-प्रकृति-सम्पन्न आधिकारी ही विष्णु देवता की उपासना से लाभान्वित हो सकता है। वायु-प्रधान के लिये सूर्य, अग्नि-प्रधान के लिये हुर्गा, जल-प्रधान के लिये शिव और पृथ्वी-प्रधान के लिये गणपति उपर्युक्त देव हैं। यदि इसके विवरीत मनमानी की जाएगी तो उसका उचित परिणाम न होगा। जैसे रोगी के लिये कोई भी औषधि देनी उचित नहीं हो सकती किन्तु उसके रोग के अनुसार और उसकी प्रकृति के अनुसार दी हुई दवाई ही लाभदायक हो सकती है, अन्यथा—

यस्य कस्य तरोमूलं येन केन प्रपेपयेत् ।

यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

अर्थात्—किसी भी वृक्ष के मूल को जैसे तैसे कूट पीस छान कर तैयार करके जिस किसी को भी खिला दिया जाए जो सो कुछ न कुछ तो फल होगा ही—इस न्यायानुसार रोगी की मृत्यु अवश्यम्भावी है।

इसलिये हमारे शास्त्र में सुस्पष्ट आदेश दिया है कि—  
आकाशस्य पतिविष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।

वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जावनस्य गणाधिपः ॥

( कापिल तन्त्र )

अर्थात्—आकाश का अधिष्ठाता विष्णु है, वायुका सूर्य, अग्नि की दुर्गा, जल का शङ्कर और पृथ्वी का गणेश ।

यही कारण है कि गणेश जी की प्रतिमा पीली मिट्टी के ढेले को मांगलिक सूत्र बांध कर बनाई जाती है ! शङ्कर पर जल चढ़ाया जाता है तथा अमरनाथ में जलसंधात = वर्फजन्य ज्योतिर्लिङ्ग शिव माना जाता है । ज्वालामुखी आदि में ज्वालाओं को दुर्गा की प्रतिनिधि माना जाता है, प्रत्येक यज्ञ में भी कुण्ड को गर्भा-शय मान कर उसके साथ योनि का निर्माण किया जाता है ।

हमारी इस स्थापना का तात्पर्य यह है कि पंच-महाभूत-जन्य मानव-पिण्ड तत्त्व तत्वों के न्यूनाधिक्य के कारण विभिन्न पांच प्रकार का पाया जाता है और उसके इस जड़ पिण्ड के संघटन का प्रभाव अन्तःकरण पर भी बराबर पड़ता है । इसीलिये कोई पुरुष स्वभावतः अतीव शान्त तो दूसरा महा क्रोधी ; कोई रुखा सूखा चना चूरी खाता हुआ भी गणपति-सन्त्रिभ स्थूल-काय ! तो दूसरा अहर्निश धी घूटता हुवा भी सुदामा का उत्तराधि-कारी ! स्थूलकाय प्रायः शान्त ; और दुबले पतले प्रायः धधकती अङ्गीठी ! कहना न होगा कि यह सब विभेद पञ्च-महाभूतों के न्यूनाधिक्य पर ही अवलम्बित है । अतः प्रधानतया मनुष्यों की पञ्च-विधि प्रकृति होने के कारण ही प्राकृतिक उपासना-पद्धति भी

पञ्च-देवोपसना के रूप में भलोविज्ञान के अनुसार सुस्थिर की गई है ।

## ईश्वर की आराधना में उपासना का स्थान

ईश्वर की आराधना में—संध्या, तर्पण, यज्ञ, हवन, जाप और वेदपाठ आदि लानाविधि कार्य किये जाते हैं । भगवत् कथा श्रवण, भगवन्नाम सङ्कीर्तन, मूर्तिपूजन आदि अनेक धर्मानुष्ठानों से भी भगवदाराधन होता है, अथव यमनियमादि सेवन पूर्वक ध्यान-समाधि लगा कर भी योगीजन उसकी उपासना करते हैं । उक्त लानाविधि आध्यात्मिक प्रयत्नों का एक दूसरे की अपेक्षा मूल्य क्या है ? अर्थात् कौन कृत्य क्या महत्व रखता है ?—यह भी तो एक महान् प्रश्न है ।

भारतीय ऋषियों ने सभी धार्मिक अनुष्ठानों का वर्गीकरण करते हुवे उन्हें ३ विभागों में विभक्त किया है । जैसे—(१) कर्म (२) उपासना और (३) ज्ञान । हम पीछे 'ईश्वर क्यों नहीं दीखता' इस प्रवृद्ध में दार्शनिक रीति से ईश्वर के न दीखने के अनेक कारण प्रकट कर आए हैं, परन्तु वेदान्त शास्त्र में इसी प्रश्न का उत्तर वड़े ही मननीय शब्दों में दिया है, प्रसङ्गवश उसका हम यहां पुनः निरूपण करना चाहते हैं । शास्त्र बतलाते हैं कि ईश्वर को देखने के लिये अन्तःकरण=हृदय-चञ्चु के खुलने की आवश्यकता है । 'अन्तःकरण' का तात्पर्य है—'मनः बुद्धिं चित्तं और अहंकार, इन चार सूक्ष्म तत्त्वों का आध्यात्मिक संघात ।' ईश्वर दीखने का यह अर्थ नहीं कि वह कहीं एक प्रदेश में उपस्थित है ? और ज्ञान चञ्चु खुलते ही सामने दीख पड़ेगा, किन्तु इस समस्या को एक दृष्टान्त से समझना चाहिये ।

कल्पना कीजिये एक मैदान में जल से परिपूर्ण एक स्थाली रक्खी है । इसके जल में मिट्टी-कण मिले हैं जिससे पानी बहुत गँधला है । साथ ही वह निरन्तर हिलती है, कणमात्र भी नहीं टिकती, तथा उसके ऊपर एक वस्त्र भी ढका है । जब ठीक मध्यान्ह के समय सूर्य भगवान् गगन-मण्डल में थाली के समान सूत्र में भी आ पहुंचे तब भी उसमें सूर्य का प्रतिविम्ब के नहीं भलकता ; क्यों ?—उन्नर स्पष्ट है कि सूर्य प्रतिविम्ब के न दीखने में तीन प्रतिबन्ध=स्कावटें हैं ; पानी गँधला है, चश्चल है और सूर्य तथा पानी दोनों के मध्य में कपड़े का अन्तर पड़ा है । कदाचित उक्त तीनों दोष दूर हो जाएं तो फिर सूर्य-प्रतिविम्ब के भलकने में देर न लगेगी । निर्वसी फटकड़ी निर्मलकरणी आदि औषधियें डाल कर जल की मैल काटी जाए, उसका हिलना रोक दिया जाए जिससे सब मैल सिमट कर नीचे बैठ जाए और अन्तमें उस पर्दे को भी हटा दिया जाए, बस ! त्रिविध प्रयत्न करने से गगनगत महामहिम सूर्य इस तुच्छातितुच्छ थाली में भी अवश्य ही प्रतिविम्बित हो जाएगा, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह देख सकेगा ।

यहां भी ईश्वर देखने के साधनभूत अन्तःकरण रूपी नेत्र में भी तीन दोष रहते हैं । प्रथम—पाप-कर्मों की मलिनता, दूसरा—मनः की अतीव चश्चलता=कण मात्र भी स्थिर न होना, तीसरा—जड़ और चेतन के विश्लेषण की अक्षमता रूप अज्ञान । इन तीनों दोषों को वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में क्रमशः मल, विक्षेप और आवरण कह सकते हैं । अन्तःकरण के इन त्रिविध दोषों को दूर करने के लिये ही समस्त वैदिक वाङ्मय की प्रवृत्ति है । ग्यारह सौ इकतीस शाखात्मक वेद-चतुष्प्रय के कुल मन्त्र

एक लक्ष हैं। उनमें से असी हजार मन्त्र केवल प्रथम दोष अर्थात्—अन्तःकरणस्थ मल को दूर करने के लिये यज्ञ यागादिक नानाविध कर्म का आदेश देते हैं। सोलह हजार मन्त्र विद्येप नामक मन की चञ्चलता को दूर करने लिये प्रतिमा-पूजन आदि उपासना का उपदेश देते हैं। वेद के अन्तिम चार सहस्र मन्त्र जड़ चेतन विश्लेषण की अचमता रूप आवरण दोष को दूर करने के लिये ज्ञान का सन्देश देते हैं। वेद के इन तीन प्रकार के मन्त्र समुदाय को क्रमशः ( १ ) कर्म काण्ड ( २ ) उपासना काण्ड और ( ३ ) ज्ञान काण्ड कहा जाता है। इस प्रकार ईश्वर की आराधना में उपासना का प्रमुख स्थान है। मन की चञ्चलता दूर हुवे बिना यज्ञ यागादि कर्ममें भी उचित फल प्राप्तिकी सम्भावना नहीं की जा सकती, ज्ञान की तो किर कथा ही क्या है ?

## उपासना के नौ ही भेद क्यों ?

उपासना के श्वरण, कीर्तन, स्मरण आदि नौ भेद हैं—सो नौ ही क्यों हैं ? न्यूनाधिक क्यों नहीं ? यह भी एक महत्त्वशाली प्रश्न है, जिसका उत्तर यह है कि जैसे माया के तीन गुणों के तारतम्य से पांच प्रकार के मनुष्य पीछे सिद्ध किये गये हैं इसी प्रकार उन पञ्चविध मनुष्यों के तारतम्य से नौ प्रकार के ही उपासक हो सकते हैं न्यूनाधिक नहीं। आए अपने हाथ की यदि तीन अंगुली फैलाएंगे तो स्वभावतः तीन अंगुली और बीच वाली अंगुली के दोनों ओर छूटे हुवे दो अन्तर कुल पांच ही स्थान हो सकेंगे न्यून या अधिक नहीं। किन्तु यदि अंगुष्ठ सहित पूरा हाथ फैलाया जाए तो पांचों अंगुलियों के मध्य में चार अन्तर होते हैं, सो पांच अंगुली और चार अन्तर दोनों मिलाकर कुल

नौ पद बनते हैं न्यून या अधिक नहीं बनते । चूंकि भावनानुसार उपासक नौ प्रकार के हो सकते हैं इसलिये उपासना के भी नौ ही भेद होने चाहियें ।

## प्रतिमा पूजन क्यों ?

प्रायः सनातनधर्मी मूर्तिपूजा को ही ईश्वर की उपासना समझते हैं यह क्यों ? उपासना के नौ भेदों में श्रवण, कीर्तन, स्मरण और पाद सेवन ये चार भेद पहिले आते हैं इनके बाद पांचवां नम्बर अर्चन-अर्थात्—मूर्तिपूजा का है । वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये चार भेद आगे आते हैं । इस तरह मूर्तिपूजाको उपासना का माध्यम समझना चाहिये । जैसे नाभि में ही पहिये के सब अरे लगे रहते हैं और वह एक धुरि में धूमता है ठीक इसी प्रकार ईश्वर की धुरी में धूमने वाले चक्र की नाभि मूर्तिपूजा है । शेष सब भेद विभिन्न अरे हैं ।

यह ठीक है कि अमुक 'अरा' जमीन की ओर है तो दूसरा उसकी अपेक्षा आकाश में चढ़ा है परन्तु आखीर हैं वे सब एक ही नाभि में ओत-प्रोत । ठीक इसी प्रकार श्रवणादिक साधन साधारण अधिकारियों के लिये होने के कारण कहने में भले ही तुच्छ साधन समझे जाएं और आत्म-निवेदन को ऊंचे अधिकारियों की वस्तु मानकर इसे उच्चतम ख्याल किया जाए परन्तु वस्तुतः 'काम जो आवे कामरी क्या ले करे कमाच'—के अनुसार सर्वविध अधिकारी अपनी २ साधना की पद्धति को किसी से कम मानने को प्रस्तुत नहीं । भूखे को अन्न जितना प्रिय मालूम पड़ता है, प्यासे को उससे कहीं अधिक जल प्रियतम लगता है ।

आध्यात्मिक मार्ग में किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के गुण दोषों पर निर्भर नहीं, किन्तु अधिकारी के लिये उसकी उपादेयता पर निर्भर है । लोक में भी पानी के स्थान में सुवर्ण का सुमेरु प्रदान करने पर भी प्यास नहीं बुझती । सुमेरु देकर यदि एक चुल्लु पानी मिल सकता हो तो दृष्टिसुमूर्षु उसे सहर्ष स्वरीदने को तैयार होगा । सो श्रवण आदि को तुच्छ और वन्दन आदि को उच्छ समझने की आनंद है । इसी प्रकार ध्यान, योग, समाधि उत्तम हैं और प्रतिमा-पूजन निष्कृष्ट है इस प्रकार की जो भावना मूर्खों के हृदय में बद्रमूल हो रही है, वह भी सर्वथा अम-मूलक और अज्ञान-गर्त में जिराने वाली है ।

हम पीछे कह चुके हैं कि उपासना का नाम प्रतीक-उपासना है । इसका सीधा अर्थ यह है कि जब हम श्रवण करने चलते हैं तब भगवान् के सगुण चरित्र ही तो हमारे श्रवण का विषय हो सकते हैं । भगवन्नाम-कीर्तन में भी सगुण-रूप के नाम लेना ही हमारा ध्येय रहता है । जिसका श्रवण और कीर्तन हुवा उसी का तो स्मरण होगा । पाद-सेवन भी 'अपाणिपाद' का सम्भव नहीं । वन्दना=अभिवादन और स्तुतिपाठ 'अवाङ्मनसोगोचर' का क्यों कर हो सकता है ? कोई स्वामी हो तभी तो हम उसके दास बनेंगे । जब हम स्वयं ही श्री १०८ स्वामी बने वैठे हैं फिर 'दास्य' का अभिनय केवल विडम्बना है । समान शील और व्यसन में ही 'सख्य' सम्भव है, निर्गुण निर्लेप के साथ हमारी समता क्या ? 'आत्म-निवेदन' तभी सम्भव है जब कि इस मेंट को प्रहण कर सकने वाला कोई हमसे पृथक् हो ।

कहना न होगा कि सब का सब उपासना काण्ड पूज्य-पूजक औ स्व-स्वामी-भाव-सम्बन्ध की भित्ति पर ही स्थिर है । यहाँ

‘सोऽहम्’ के स्थान में ‘दासोऽहम्’ का ही साम्राज्य है । एतादता यह सिद्ध हुवा कि मूर्ति-पूजा ईश्वर उपासना की जान है । या द्रविड़ प्राणायाम किये बिना सीधे शब्दों में यू कह दो कि मूर्ति-पूजा ही वस्तुतः ईश्वर उपासना है । ज्ञान कोटि में पहुंचने के लिये साधक का मनः जब तक सुस्थिर न हो सके तब तक मूर्तिपूजा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है कि जिसके द्वारा मन को वश में किया जा सके, शास्त्र में लिखा है कि—

मनोधृतिर्धारणा स्यात्समाधित्र्व्याणि स्थितिः ।

अमूर्तौ चेत्स्थिरा न स्यात्ततो मूर्ति विचिन्तयेत् ॥

( रणवीर भक्ति रत्नाकर- )

अर्थात्—मन की धृति को धारणा कहते हैं । ब्रह्म में स्थित हो जाने का नाम समाधि है, परन्तु यदि बिना मूर्ति मन स्थिर न हो तो तब मूर्ति की आवश्यकता पड़ती है ।

## मूर्ति-पूजा

उपासना की पांचवीं श्रेणी मूर्तिपूजा है, चञ्चल मन को चारों ओर से रोक कर एकाग्र करने का यही एक मात्र उपाय है । वेदादि शास्त्रों में विस्तार पूर्वक मूर्तिपूजा का विधान आता है । यथा—

## वैदिक-स्वरूप

( क ) मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि ।

( तैत्तिरीय प्रप० अनु ५ )

( ख ) सहस्रस्य प्रतिमा असि । ( यजु० १५ । ६५ )

( ग ) अर्चत ग्राचत प्रियमेधासो अर्चत ।

( ऋग्वेद अष्टक ६ अ० ५ सू० ५८ मं० ८ )

( घ ) मुखाय ते पशुपते यानि चक्षुंषि ते भव, त्वये रूपाय  
संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः । अंगेभ्यस्त उदराय  
जिह्वाय आस्याय ते ददृभ्यो गन्धाय ते नमः ।

( अथर्ववेद ११ । २ । ५-६ )

( ङ ) एह्नरमानमातिष्ठाशमा भवतु ते तनुः ।

कृष्णन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

( अथर्व० २ । १३ । ४ )

( च ) एतु प्राणा एतु मनः एतु चक्षोरथोवलम् ।

( अथर्व० ५ । ६० । १२ )

( छ ) ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु देव्याय प्रस्तराय ।

( अथर्व० १६ । २ । ६ )

( क ) अर्थ—हे महावीर, तुम ईश्वर की प्रतिमा हो । ( ख ) हे  
परमेश्वर, आप सहस्रों की प्रतिमा (मूर्ति) हैं । ( ग ) हे बुद्धिमान्  
मनुष्यो ! उस प्रतिमा का पूजन करो, भलीभांति पूजन करो

( घ ) हे पशुपते शिव ! आप के मुख को, तीन नेत्रों को, त्वचा  
को, रूप को, अङ्गों को, उदर (पेट) को, दांतों को और

नासिका को नमस्कार हो । ( ङ ) हे परमात्मन ! तुम आकर  
इस पाषाण में विराजमान हो । यह आपका शरीर बन जावे

और सब देवता सैंकड़ों वर्ष पर्यन्त इसमें आपकी विभूति को स्थिर  
करें । ( च ) इस प्रतिमा में प्राण आयें, मन आये, नेत्र और

बल आये । ( छ ) हे प्रतिमा ! तू ऋषियों का पाषाण है, तुम्हे दिव्य पाषाण के लिये नमस्कार हो ।

## शास्त्रीय-विवेचन

अनादि काल से हमारे पूर्वज विधिपूर्वक प्रतिमा पूजन करके मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होते रहे हैं। आज से अबों वर्ष पूर्व बालक श्रुत ने नारद जी के उपदेश से मूर्ति की पूजा करके केवल छः मास में परमात्मा के दर्शन पाये थे । यह कथा श्रीमद्भागवत ( ४।८।७१ । ) में आती है । रामचन्द्र जी का स्थापित किया हुवा 'रामेश्वर' नामक शिवलिङ्ग सेतुबन्ध में अभी तक विद्यमान है, वाल्मीकीय रामायण ( युद्ध० १२५ ) में इसका उल्लेख मिलता है । रावण तो यात्रा में भी सुवर्णमय लिङ्ग साथ रखा करता था और उसकी नित्य पूजा किया करता था, यह बात भी वाल्मी० रामा० ( उत्तर० २१ ) में लिखी है । यह दोनों घटनायें आज से नौ लाख वर्ष पुरानी हैं ।

एकलव्य नामक भील ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर गुरु भावना से सम्मानित की थी, जिसके प्रताप से वह वाण-विद्या में अर्जुन से भी अधिक निपुण हो गया था महाभारत के आदि० १३३ में यह वर्णन मिलता है ।

यूँ तो संसार के सभी पन्थ किसी न किसी रूप में मूर्ति-पूजक हैं ही, परन्तु फिर भी वे अपने घर की सम्भाल न करके सनातन-धर्म पर जड़ोपासना का आदेष करने का साहस किया करते हैं । इसलिये यहां कतिपय प्रसिद्ध २ पन्थों की जड़ोपासना का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा ।

रोमन कैथोलिक ईसाई—जो कि वास्तव में ईसाई पन्थ के उत्तराधिकारी है—मरियम और यशुमसीह की मूर्ति अपने चर्चों में रखते हैं, बाकी ईसाई भी 'क्रास' की पूजा करते हैं ।

मुसलमान—मक्केशरीफ में जाकर 'संगे असबद' नामक काले पत्थर को जो कि कभी मक्केश्वर महादेव था, चूमते हैं । जमजम कुंवे में खजूर की पत्तियें डालने में पुण्य मानते हैं । ताजिये, और महदी निकालते हैं । केवल पश्चिम दिशा में मुंह करके ही नमाज पढ़ते हैं । टोपियों पर आधे चाँद की मूर्ति लगाते हैं और नमाज पढ़ते समय तहमद बाँधना आवश्यक समझते हैं, अन्यथा निमाज के नाश हो जानेका भय मानते हैं ।

आर्यसमाजी—उस्तरा, कुशा, पटेला, अंजन, शीशा, छाता, लाठी, जूता आदि की पूजा=उपासना=प्रार्थना करते हैं । चाँद को अर्घ देते हैं । नित्य पृथ्वी को चन्दन अक्षत से पूजते हैं । रीढ़ की हड्डी में मन टिकाते हैं ।

अकाली सिक्ख—स्यालकोट में बेरी साहिब, अमृतसर में टाली साहिब, कहीं रिठा साहिब, कहीं मंजी साहिब नाम से वृक्षों और चारपाईयों तक की पूजा करते हैं । कपड़े लपेटते हैं । हर एक गुरुद्वारे के साथ कपड़े के खोल में छुपा हुवा झण्डा-साहिब खड़ा रहता है । ग्रन्थ साहिब की पुस्तक पर चौंर ढोलते हैं, रेशमी कपड़े लपेटते हैं ।

इसी प्रकार अन्यान्य पन्थ भी स्वयं सैंकड़ों प्रकार की जड़ चीजों को अनावश्यक सन्मान देते हैं, परन्तु सनातन-धर्म के वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त प्रतिमा-पूजन पर कटाक्ष करते नहीं लजाते । पीछे कहा जा चुका है कि परमात्मा साकार=मूर्तिवाला

और निराकार=मूर्ति रहित दोनों प्रकार का हैं । सो साकार की प्रतिमा द्वारा उपासना की जाती हैं और निराकार का ध्यान किया जाता है, जब तक मूर्तिपूजा द्वारा मन स्थिर न हो जाए तब तक ध्यान लगाने का प्रयास ढोंग मात्र है, और स्वयं अपने आप की वश्वना करने के बराबर है ।

सनातन धर्म पाषाण, धातु और मिट्टी आदि जड़ पदार्थों की उपासना की शिक्षा नहीं देता, किन्तु पाषाणादि-व्यापक चेतन परमात्मा की पूजा का आदेश करता है । इसीलिये प्रतिमा के सामने कभी कोई सनातन-धर्मी यह शब्द नहीं कहता कि 'हे काले ! गोरे ! अमुक रंग के पथर ! अथवा मिट्टी ! गारे ! धातु आदि ! मैं तुम्हे नमस्कार करता हूँ' बल्कि यही कहते हैं कि 'हे सर्वव्यापक ! सर्वान्तर्यामी प्रभु ! तू संसार का रचयिता, पालयिता, और संहर्ता है, मैं तुम्हे बार २ प्रणाम करता हूँ' ।

विचार करें कि यह स्तुति पाषाण आदि जड़ पदार्थों में घटित होती है या चेतन परमात्मा में ? रहा प्रश्न यह कि मूर्ति सामने रखने की फिर जरूरत ही क्या है ? सो यह अटल सिद्धान्त है कि जड़ वस्तु के आश्रय के बिना चेतन की पूजा की ही नहीं जा सकती । उदाहरणार्थ समझना चाहिये कि कोई सुपुत्र अपने पिता की पूजा करना चाहता है; वह पिता को स्नान कराएगा, वस्त्र पहनाएगा, मस्तक पर सुगन्धित चन्दन का लेपन करेगा और गले में पुष्पमाला डालेगा । कहना न होगा कि यह सब कार्य अस्थि-चर्म-निर्मित जड़-शरीर पर ही किये जाएंगे, परन्तु इनसे प्रसन्न होगा पिता का चेतन आत्मा । असल बात तो यह है कि जड़ देह के आश्रय के बिना चेतन आत्मा को किसी

प्रकार सन्तुष्ट किया ही नहीं जा सकता । ठीक इसी प्रकार किसी जड़ वस्तु के आश्रय के बिना चेतन परमात्मा की पूजा की ही नहीं जा सकती ।

यदि कोई कहे कि फिर किसी शरीरधारी मनुष्य की ही परमात्मा के स्थान में पूजा क्यों नहीं करली जावे ? सो शरीरधारी मनुष्य मनुष्य होने के कारण सदैव विकार-रहित नहीं रह सकता । समय के फेर से वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार-सम्पन्न हो सकता है, उस समय हमें उसका दुष्कर्म देख कर उस पर धृणा हो जायेगी, परन्तु पाषाणादि से बनी हुई प्रतिमा सदैव निर्विकार निश्चल एवं शान्तिमयी बनी रहती है इसलिए उसमें उत्तरोत्तर हमारा अनुराग बढ़ता ही जायगा ।

जिस प्रकार निराकार ज्ञान को प्राप्त करने के लिये साकार पुस्तकों की आवश्यकता है, निराकार ताल और स्वर को उत्पन्न करने के लिये साकार तबले सारंगी की जरूरत है । निराकार मीठे, खट्टे, चरपरे आदि रसों का आस्वादन करने के लिये साकार मिश्री, अमचूर, मिरच आदि पदार्थों को खाने की जरूरत है इसी प्रकार निराकार परमात्मा को पाने के लिए साकार मूर्ति की आवश्यकता है ।

अपठित गंवार की दृष्टि में भूगोल का चित्र टेढ़ी मेढ़ी लकीरों से भंडा हुवा कागज मात्र है, परन्तु भूगोलवेत्ता मनुष्य उन्हीं रेखाओं को नदी, समुद्र, पर्वत, समतल, देश, प्राम एवं नगर के रूप में देखता है । वह घर बैठा हुवा उस छोटे से चित्र की सहायता से समस्त भूमण्डल का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार सनातनधर्मियों की मूर्ति अज्ञानी मूर्खों को पथर नजर आती है परन्तु सनातनधर्मी उसमें—

‘भूपादौ यस्य नाभिर्वियदसुरनिलथन्दस्यौ च नेत्रै’

के अनुसार समस्त ब्रह्मारण के दर्शन करते हैं और ब्रह्मारण-व्यापक चेतन प्रभु की बांकी भाँकी निहारते हैं ।

एक पैसे में बहुत से कोरे कागज आजाते हैं और सैकड़ों रही कागज यूंही बाजारों में रुलते रहते हैं, परन्तु जिस कागज पर बादशाह की मुहर लग जावे, हस्ताक्षर हो जावे—मूर्ति छप जावे, फिर वह हजारों रूपये का कीमती नोट बन जाता है, लोग उसे लोहे की पेटियों में संभाल कर रखते हैं । उस समय कोई गंवार कागज समझ कर रही की टोकरी में नहीं फेंकता । इसी प्रकार पत्थरों के ढेर के ढेर पर्वतों पर टोकरी में रुलते फिरते हैं, परन्तु जब किसी पापाण पर वेद-मन्त्रों की मुहर लग कर प्राण-प्रतिष्ठा हो जाए और वह प्रभु की मूर्ति बन जाए तब वह पत्थर पत्थर नहीं रहता किन्तु मुक्ति का द्वार बन जाता है । इसलिये चब्बल मन को एकाग्र करने के लिए विधिपूर्वक प्रतिमा पूजन अवश्य करना चाहिये ।

## प्रतिमा-पूजन का मनोवैज्ञानिक रहस्य

प्रतिमा पूजन के सम्बन्ध में सप्रमाण स्यौक्तिक विवेचन हमारे ‘सनातनधर्म’ ‘आंकार और शिवलिङ्ग’ तथा ‘पुराण-दिग्दर्शन’ में विस्तृत रूप में आचुका है अतः हम जान बूझकर यहां पिष्टपेषण नहीं कर रहे हैं, परन्तु यहां इतना और अधिक समझ लेना चाहिये कि मन को स्थिर करने का प्रधान साधन मूर्तिपूजा है । जब हम ईश्वर की आराधना करने वैठते हैं तो उस समय मनीराम को दुनिया भर के बखेड़े सूझते हैं । यह कभी

अनुभूत रसों के आस्थादन को स्मरण करने लगता है तो जीभ पानी छोड़ जाती है । कभी दृष्टचर रूप-लावण्य की अनुभूति में गर्क हो जाता है तो आंखें आकुल हो उठती हैं । कभी सुश्रुत शब्द सौन्दर्य को, कभी समाजात सौरभ-सम्पत्ति को और कभी संस्पृष्ट कमनीय को मल अज्ञयष्टी को सुतरां स्मारं २ तत्तत् सुखद अनुभूतियों के तरङ्गित सागर में डुबकियें लेने लगता है । तब तत्तद् विषयों की अहर्निश-अनुरागिणी इन्द्रियें साधक को पूजा-पाठ का बखेड़ा छोड़ कर अपने २ स्पृहणीय विषयों को जुटाने के उद्योग में व्यापृत होजाने की प्रबल प्रेरणा देने लगती हैं । ऐसी स्थिति में मनुष्य प्रायः मन के सामने हथियार डाल देता है ।

कई साहसी योद्धाओं ने मन को मात देने के लिये इन सब इन्द्रियों के द्वारों को सहसा रोक कर ध्यान के किले में बैठ जाने का प्रयत्न किया । कानों में रुई डाली, नाक में काक फिट किया, आंखें बलात् बन्द कर डालीं, जीभ को दान्तों के सीखचों में ऐसा जकड़ा कि टस से मस न होने दी और कछुबे की तरह हाथ पावों को समेट कर बण्डल बन कर बैठ गये । परन्तु मिस्टर मनीराम को अपनी उधेड़-बुन के लिये वाह्य-सामग्री की आवश्यकता ही नहीं । किले के दरवाजे ज्यों के त्यों बन्द पड़े रहे, परन्तु श्रीमान् जी साधक के हृदय के एक कोने में बैठे २ ही अपनी कल्पनामय सृष्टि यथापूर्व रखते रहे । घेरा डालना व्यर्थ सिद्ध हुआ । इससे चिढ़कर सूरदास जी जैसे प्राणों पर खेल कर भी विजय पाने वाले वीरों ने तो अपनी आंखों की बे दोनों खिड़कियें ही तोड़ फोड़ डाली, जिनसे कि कभी चिन्तामणि वेश्या उनके मन-मन्दिर में आ घुसी थी । निःसन्देह यह सूख रूस की घर फूंक नीति की भान्ति शत्रु को छकाने की एक साहसपूर्ण प्रतिक्रिया यी

परन्तु बना इस से भी कुछ नहीं । क्योंकि मिस्टर ऐम्ब० ऐम्ब० साहिब का चर्म-चक्करों से वास्ता ही क्या ? वह तो जन्मान्ध को भी कलिपत सौन्दर्य का रस पिलाने में सिद्धहस्त है । आखी वह कौन उपाय किया जाए कि जिससे यह उधेड़-बुन शान्त हो ? बस इस समस्या का सुनहला हल एकमात्र मूर्तिपूजा है ।

वैदिक वर्णन के अनुसार यह शरीर रथ है, इन्द्रियें घोड़े हैं, मनः लगाम और बुद्धि सारथी है, तथा आत्मा रथी है । जैसे कोई यात्री अपने रथ को तोड़ कर घोड़ों को मार कर, रस्सी को विनष्ट करके एवं कोचवान को धता बताकर अपने उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकता, ठीक इसी प्रकार जीव अपने शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धि आदि का समूल नाश करके परमात्मा के निकट नहीं पहुंच सकता । इसलिये हमारे शास्त्रों में शरीर रक्षा को धर्मार्थ काम और मोक्ष का मूल कारण माना है । इसलिये किसी ऐसे राजयोगात्मक उपाय की आवश्यकता है कि जिससे न शरीर का शोषण हो, न इन्द्रिय रूप घोड़े अपने विषयोपभोग रूप खुराक से वंचित रहें, परन्तु मनीराम न तमस्तक होकर हमारा आज्ञापालक बन जाए ! ऐसा एक मात्र उपाय है—भगवत् प्रतिमा का यथाविधि पूजन ! वह कैसे—अब जरा इस रहस्य को समझ लीजिये ।

साधक अपने मन को टिकाने के लिये ज्यों ही बैठा त्यों ही मन ने अपने स्वभाव के अनुसार कानों के रास्ते से बाहर निकल कर इधर उधर की गपशप सुनने के विचार से उड़ार भरी । मन्दिर के पुजारी ने इससे पूर्व ही शङ्ख, घड़ियाल, झांझ, मजीरे, मृदङ्ग और नगारे, न जाने क्या २ अनन्त बाजे बजाकर इतना प्रबल उद्घोष किया कि जिससे मन्दिर का वातावरण बाह्य वाता-

वरण से सर्वथा अछूता हो गया । अब बाहर चाहे बारात के जलूस की रंगरालियें हों और चाहे 'राम राम सत्य है' की ध्वनि के साथ करणा जनक चील्कार हो, दोनों का ही साधक पर कुछ प्रभाव नहीं । मन ने जब कान के द्वार पर भगवान् के रंग में रंगा हुवा कर्णमधुर वाद्यघोष सुना तो कर्णेन्द्रिय को अपना विषय मिल जाने के कारण तृप्ति अनुभव की ।

कानों की ओर से तृप्त हो कर अब मन सौन्दर्य सुधापान के लिये व्याकुल होकर नेत्र द्वार से बाहर भाँकने लगा । यहां भी पुजारी ने झट पड़दा हटाकर भुवन-मोहन भगवान् की लावण्यमयी मूर्तिको सामने उपस्थित कर दिया और दिन में भी दीपक जलाकर चरणारविन्द से लेकर मुखारविन्द पर्यन्त बार बार प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गको दिखाते हुवे भावनामयी मूक भाषामें कहा— 'ओ ! रूप लावण्य के रसिक, उन्मत्त मन ! यदि तू रूप सुधाकर का ही प्यासा है तो नर्क में गिराने वाले किसी मल मूत्र के थैले की दुर्गन्ध पूर्ण नश्वर प्रतिमा की घिनौनी रूपमाधुरी पर क्यों आसक्त होता है ? यह देख तेरे सामने 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करहिं'—का छवि सुधा-सागर अपनी उत्ताल तरङ्गों से विश्व को आप्यायित करता हुवा ठाठें मार रहा है ।'

साधक का सौन्दर्यभिलाषी मन यहां भी नेत्र रूप घोड़े को अपना भोजन मिल जाने के कारण परितृप्त हो गया, परन्तु अब सुगन्ध के लिये छटपटाता हुआ नासिका के द्वार पर आ डटा । पुजारी ने यहां भी चतुरतासे काम लिया । झट अगरबत्ती धूप आदि विशुद्ध भारतीय वनस्पतियों के रस से बने हुवे आघोय धुका डाले, ग्राण को भर पेट अपना भोजन मिल गया । अब मन अपना अन्तिम ब्रह्मास्त्र थाम कर रस चखने की लालसा से जीभ

के फाटक पर मोर्चा बांध कर बैठ गया । पुजारी जी यहां भी नहीं चूके । भट भोग लगाते ही कभी छप्पन भोग, कभी छत्तीस व्यञ्जन और कभी पेड़ा बताशा ही सही साधक के हाथ पर रख दिया । मुंह में डालते ही मनीराम बोल उठा—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।  
प्रसन्नचेतसो ह्यासु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति ॥

अर्थात्—प्रसाद=भगवान् के प्रसन्न होते ही [ अथवा होड़ा चक्र के उत्तरार्द्धप्रोक्त व्याख्यानुसार—पेड़ा बताशा मिलते ही ] जीव के सब दुःख परिसमाप्त हो जाते हैं, प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि सुस्थिर हो जाती है ।

अब मनीराम को कोई द्वार नहीं मिला कि जहां बैठ कर वह गोलाबारी कर सके । सब इन्द्रियों को अपने २ विषय भी मिल गए, जो भगवान् के रंग में रंगे हुवे होने के कारण नर्क के हेतु न बन कर मोक्ष पथ के पथिक साधक की संबल समग्री बन गए ।

आज के इस वैज्ञानिक युद्ध में मन बहुत घबड़ाया । उसने सोचा कि आज शत्रु ने मुझे कावू करने के लिये क्या अजीब व्यूह रचना की थी ! मैं किले के जिस द्वार पर गया वहीं मेरे ही चहेते प्रियतम, शत्रु के रंग में रंगे हुवे, पञ्चाङ्गी बने फिरथ कालम का काम कर रहे ! ! इन्द्रियों के जिन भरोखों में बैठ कर आज तक मैं साधक पर प्रहार करता रहा हूं अब उन सब स्थानों पर ईश्वरी भरणा गड़ चुका है ! सबसे बड़ा अनर्थ यह है कि शब्द म्पर्श, रूप, रस और गन्धादि मेरे प्रधान सेनानी आज स्वयं ईश्वरीय श्वरङ्ग में रंगे हुवे उस भरणे के रक्तक बने हुवे हैं ऐसी दशा में अब युद्ध चालू रखना भारी जोखों से खाली नहीं ! इसलिये सन्धि

कर लेनी चाहिये, बस ! अगले रोज मनीराम स्वयं ही भक्ति मार कर ढीला पड़ गया । साधक नित्य इसी अनुभूत युद्ध-पद्धति से आगे बढ़ता रहा । कुछ दिनके बाद प्रत्येक काम में अनावश्यक अड़ंगे लगाने वाला मनीराम इतना सीधा हुवा कि अब वह साधक का परम हित-चिन्तक दास बना हुवा है । संकेत पाते ही आध्यात्मिक मार्ग में समस्त सुविधाएं समुपस्थित करना उसका प्रधान कर्तव्य है । साधक ने अब उसे विश्वस्त मित्र समझ कर अपना प्रधान मार्ग-दर्शक नियत कर लिया है ।

## प्रतिमा अनिवार्य क्यों ?

अब स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है, कि प्रतिमा पूजन अनिवार्य क्यों है ? उसके द्वारा मन अपनी चञ्चलता छोड़ कर शान्त वा एकान्त कैसे हो जाता है ?—एतदर्थ पहिले यह समझ लेना चाहिये कि योगदर्शन के अनुसार मन को निर्विषय = [कोई उधेड़-बुन ही उसके सामने न हो ऐसा—] बनाना ही ध्यान है—परन्तु वह निर्विषय कैसे बने—यह बात बिल्ली के गले में घट्टी बान्धने के समान म्याऊँ का ठौर पकड़ने वाली अतीव कठिन समस्या है । इसलिये महर्षि पतञ्जलि ने उक्त काठिन्य को अनुभव करके तत्काल ही अगले सूत्र में बतलाया है कि—

यथाभिमतध्यानाद्वा ।

(योग दर्शन)

अर्थात्—जिस को जो अभिमत हो उसका ध्यान करने से भी [ मन शान्त हो सकता है ] तात्पर्य यह है कि मन टिकाने के लिये किसी भी भौतिक साधन को प्रतीक बनाने की तो

अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों में—

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम् ।

अर्थात्—अव्यक्त वस्तु में मन टिकाना अतीव दुष्कर है। इसलिये कोई प्रतीक अवश्य होना चाहिये ।

कौन प्रतीक हो ?

वह प्रतीक कौन हो ? इस विषय में शास्त्र ने साधक की अपनी इच्छा को महत्व दिया है ; क्योंकि जिस वस्तुमें स्वभावतः ही साधक का मन अधिक टिकता हो यदि उसको ही उपास्य का प्रतीक बना लिया जाए तो मनोविज्ञान के अनुसार वह साधन कार्य-सिद्धि का सर्वाधिक उपयुक्ततम् कारण सिद्ध होगा । जैसे यदि कोई साधक सूर्य को देखकर अधिक प्रभावित होता है और घटों तक तदविषयक विचार सागर में तिमन्न हो जाता है तो उसे सूर्य-मंडल को प्रतीक मान कर ही—

ध्येयः सदा सवित्रमण्डलमध्यवर्ती ।

नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ॥

—के अनुसार सूर्य के साध्यम से भगवदुपासना करनी चाहिये । इसी प्रकार गङ्गा यमुना की उत्ताल तरङ्गों की कल २ ध्वनि में ही स्वभावतः आनन्द-विभोर हो जाने वाले साधकों इसी प्रतीकमें—

‘वर्यं तु तापसंतसा नीराकारमुपास्महे’

—कहते हुवे भगवान् की उपासना करनी चाहिये । इसी प्रकार गुरु पिता माता के पाञ्चभौतिक पिण्डों को भी—

‘आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः’

—के अनुसार भगवान् का प्रतीक मान कर उपासना की जा सकती है, परन्तु उक्त सब प्रतिमाएं सर्वथा और सर्वदा उपदेय नहीं कही जा सकती । क्योंकि सूर्य को प्रतीक मानने पर उसके रातमें, या बादलमें छुप जाने पर, या ग्रहण समय में उसे न पाकर साधक निराश हो सकता है । इसी प्रकार गङ्गा भी सर्वत्र प्राप्य नहीं । गुरु, पिता, माता—मनुष्य होने के नाते कभी न कभी काम, क्रोध आदि विकारों से पराभूत अवश्य हो सकते हैं । तब उनको वैसा देख कर भगवत्प्रतिमा मानने वाला साधक अपनी श्रद्धा को स्थिर न रख सकेगा । ऐसी दशा में प्रतीक ऐसा होना चाहिये, जो कि सर्वदा सर्वत्र सुलभ भी हो तथा काम क्रोधादि विकारों से अस्पृष्ट भी रहे । शास्त्रकारों ने इसलिये शैली, दारुमयी, लौही, लेख्या, लेप्या, सैकिती, मनोमयी और मणिमयी इन आठ प्रकार के प्रतीकों में सबे प्रथम पाषाणमयी प्रतिमा को प्रशस्त माना है, क्योंकि पाषाणमयी प्रतिमा अपेक्षाकृत सर्व-सुलभ भी है और काम आदि विकारों की भी उसमें सम्भावना नहीं । इसलिये अधिकांश प्रतिमाएं पाषाणमयी ही होती हैं ।

यह तो हुवा सुलभता और उपयोगिता की हाई से प्रतीक का निर्वाचन । अब यह निर्णय भी साधक की अपनी रुचि पर ही निर्भर है कि—गुरु जी ने विष्णु की उपासना का तो आदेश दिया है, परन्तु विष्णु की कौन प्रतिमा की उपासना करूँ ? ‘सशङ्खचक्र’ सकिरीट्कुरडलम्’ को पूजूँ ? या भक्त ध्रुव के मुख में अपने कर कमलों से शङ्ख द्वारा जल डालते हुवे भक्तवत्सल भगवान् को पूजूँ ? किंवा ‘जैसे तुम गज काज नंगे पांव धाए हो’ का

स्मरण करूँ ? कहना न होगा—कि इस विषय में शास्त्र ने साधक को पूरी स्वतन्त्रता दी है कि चाहे—‘दोर्भ्या दोर्भ्या व्रजन्तम्’ को, चाहे ‘अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो’ को, चाहे ‘करघृतराधापयोधरः पातु’ को, चाहे ‘मल्लानामशनिः’ को और चाहे ‘धृतरथचरणः श्रमवार्यलं श्रुतास्यः’ को यथेच्छ पूजा जा सकता है । इसलिये महर्षि पतञ्जलि ने सुरूपष्ट लिख दिया है कि साधक ‘यथाभिमत का ध्यान करने में स्वतन्त्र है ।

## ध्यान करने की गुरुगम्य विधि

यद्यपि यह विषय गुरुगम्य है, इस प्रकार सर्व साधारण के लिये पुस्तकों और ट्रैकटों में छापने योग्य नहीं । क्यों कि आज कल के निगुरे जो कि केवल ‘पुस्तकं प्रत्यधीतम्’ को चरितार्थ करते हुवे स्वयं ही ‘मुतायला’ करके पल्लव-प्राही पाण्डित्य-मात्र से ही ‘द्विप इव मदान्ध’ हो कर फूले नहीं समाते । वे लोग उक्त विषय के स्पर्श के भी अधिकारी नहीं हैं, तथापि प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने के कारण कुछ भी न कहना कर्तव्य से पराड़-मुख होना होगा, अतः संक्षेप से लिखते हैं । साधक को ईश्वर की उपासना करते हुवे मूर्ति का ध्यान कैसे करना चाहिये ?—यह रहस्य सावधान होकर समझ लेना चाहिये ।

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आसन पर यथोक्त दिशामें मुख कर के ‘समकायशिरोग्रीवम्’ के अनुसार रीढ़ की हड्डी और ग्रीवा को सीधी करके यथोक्तमाला हाथमें लेकर गुरुप्रदत्त अमुक मन्त्र का उपांशु जाप करते हुवे अपने सामने अपने अभिमत इष्टदेव की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये । मन्त्रजाप और माला का व्यापार यथाविधि चलता रहे और जपे जाने वाले मन्त्र के गुरुपदिष्ट अर्थ का भी चिन्तन चलता रहे । [ ये सब अङ्ग

उपासनाके बाद्य शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग समझने चाहियें और अर्चा=उपासना का प्राण ध्यान समझना चाहिये ] साधक अपने नेत्रोंके सामने रक्खी भगवत्प्रतिमाको पांव से मस्तक पर्यन्त देखकर आंख बन्द करले और फिर अभी सामने जैसी प्रतिमा देखी थी वैसी ही प्रतिमा ज्यों की त्यों हृदय-प्रदेश के भ्रूमध्य-प्रदेश में ध्यान से देखने का प्रयत्न करे । अवश्य ही नेत्र बन्द करते ही सामने की प्रतिमा का पूरा चित्र ध्यान में न रह सकेगा । कौन अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कौन भावभङ्गी और कौन रङ्गरूप कैसा है—इस विषयमें भ्रम सा हो जाएगा । बस, फिर जरा आंख उघाड़ कर विस्मृत अङ्ग, भावभङ्गी या रङ्गरूप को सावधानी से खूब ताक लो और पुनः नेत्र बन्द कर लो ।

उपासना के इस अभ्यास को करते हुए ध्यान रहे यह नेत्र उघाड़ने बन्द करने का व्यापार ऐसी रीति से होना चाहिये कि जैसे नव-वधूटी गुरुजन-मध्यगत अपने प्राणनाथ को देख भी लेती है और—‘यह देख रही है—’ ऐसा गुरु-जनों को विदित भी नहीं होने देती । सो साधक उतनी ही आंख उघाड़े जितनी कि भगवद्-मूर्ति को देखने के लिये आवश्यक हो । इतनी अधिक न खोले कि जिससे घर भर के घट-पटादि पदार्थ स्मृति-रूढ़ हो जाएं, और आँख बन्द होते ही ध्यान में भगवद्-प्रतिमा के बजाए झांड थामे लङ्घा की मां सामने समुपस्थित दीख पड़े । तो नेत्र उतने ही खोले जाएं जितने आवश्यक हों, और बन्द भी इस रीति से करे कि जैसे दरवाजे पर चिक छुटी रहती है । बलात् उत्पीड़न-पूर्वक बन्द करके अपनी सूरत को न बिगाड़ वैठे । कभी फिर कोई उर्दू का कवि पते की सुनाने लगे कि—

इक हम हैं लिया अपनी सूरत को बिगाड़,  
इक वे हैं जिन्हें तसवीर बना आती है ।

सो आप भी ध्यानमयी तसवीर बनाने चले हो । अतः अपना मुँह स्वयं भोंडा न बनाएं । नेत्र बन्द करने पर भी ज्यों २ आँख की पुतली डोलती हैं त्यों २ उसके तारतम्य के अनुसार हमारा ध्यान भी तराङ्गित होने लगता है । अतः बन्द नेत्रों के काले बिन्दु, हृदय या भ्रू-मध्य की ओर ही अपना रुख रखें, तभी ध्यान में सामने को चित्र स्थिर हो सकेगा । अब मन का काम होगा भागना और आप का काम होगा उसको पुनः पकड़ कर भगवत्-चित्र-निर्माण के व्यापार में संलग्न करना । आखीर—‘करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान’ के अनुसार एक दिन आप यह अनुमान करने लग जाएंगे कि सामने वाला भगवान् का चित्र नेत्र बन्द करने पर भी आपको ज्यों का त्यों सर्वाङ्ग-पूर्ण दीख रहा है । बस, उस दिन समझो कि साधक ध्यान की प्रथम-कक्षा में उत्तीर्ण हो गया ।

ध्यान रहे, मन की और तुम्हारी यह भाग दौड़ की रस्साकशी अधिक दिन तक चलाने की आवश्यकता न पड़ेगी किन्तु यदि आप नियमपूर्वक उपासना करते चले गए तो उत्तरोत्तर आप मन को थकता और अपने आपको सफल होता अनुभव करने लगेंगे । इसी कशमकश का नाम शास्त्र में अभ्यास है । योगदर्शन में और श्रीमद्भगवद्गीता में भी मन की चञ्चलता दूर करने का एक मात्र उपाय—‘अभ्यास’ और ‘वैराग्य’ ही बतलाया है । सो वैराग्य का तात्पर्य तो भला उन २ विषयों से ग्लान्त होना हो सकता है जिनमें कि मन भाग कर संलग्न

होना चाहता है, परन्तु 'अभ्यास' क्या है—यह बात व्याकरण काव्य, कोशों के बल पर नहीं समझो जा सकती। 'अभ्यास' यह योगशास्त्र का 'पारिभाषिक' शब्द है। 'योग' के बल पुस्तकों में लिखित सूत्रों और उनके भाष्यों को कण्ठ करने का नाम नहीं किन्तु यह तो गुरुगम्य-विद्या है।

अस्तु, यदि अभ्यास की प्रथम श्रेणी में साधक उत्तीर्ण हो गया तो अब उसे दूसरी कक्षा में प्रविष्ट होना चाहिये। वह यह है कि आज तक तो उसने सामने के चित्र जैसा मानसिक-चित्र बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु अब उसे चाहिये कि वह चन्द इंच या फुट भर के चित्र को पूरे स्वरूप में देखने का प्रयत्न करे। जैसे हमारे मित्र का चित्र यदि दो इंच भर का है तो भी हम उसे साढ़े तीन हाथ का ही देखते हैं और चित्र में केवल एक ही ओर—साइड दिखाई दिया करती है तो भी हम उसमें उभरा नाक, मुडौल सुजाएं और गहरी नाभि इत्यादि विलक्षणताएं स्वयं अनुभव करते हैं। चित्रकार=फोटोग्राफर भी छोटे चित्र को बड़ा बनाते हैं इस क्रिया को वे Enlarge कहते हैं। सो साधक को भी दूसरी श्रेणी में अपने इष्टदेव को केवल चित्र के रूप में न देख कर असली रूप में देखने का प्रयत्न करना होगा, अर्थात्—चित्र—प्रतिमा—प्रतांक-भावना निकाल कर उसे वस्तुतः भगवान् के तादृश दर्शन करने होंगे। यह साधना भी यथासमय पूरी हो जाएगी और साधक प्रतिमा से प्रतिमावान् को देख पाएगा। जिस दिन यह सम्भव हो जाए उस दिन समझ लो कि साधक अर्चात्मक-उपासना की दूसरी श्रेणी में भी उत्तीर्ण हो गया।

अब तीसरी कक्षा का अभ्यास समझिये। साधक को चाहिये

कि उसने अपने इष्टदेव की जिस प्रतिमा को आज तक मनुष्य जैसे आकार-प्रकार रंगरूप और कद में देखा था अब वह उसे उत्तरोत्तर और विस्तृत करने लगे और इतना विस्तृत कर ले कि यह सब ब्रह्माण्ड ही इष्टदेव का विराट् रूप दीखने लगे । सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, तारे-सितारे और संघ्यारे तथा पृथ्वी-समुद्र हिमालय सब कुछ उसी इष्टदेव के अङ्ग प्रत्यङ्ग जँचने लगे । बस ! जिस दिन यह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी उस दिन समझ लेना चाहिये कि अब साधक उपासना-कारणका पारङ्गत हो गया है । यह स्थिति कितने समय में हो सकेगी और अमुक कक्षा का अभ्यास कितना समय-साध्य है इस का सीधा उत्तर यह है कि साधक जितनी लगन से और जैसी तत्परता से साधना करेगा उसको उतना ही समय मापेन्ह्य होगा । दृढ़ निश्चयी एकान्त और शान्ति प्रिय यदि एक मास में कक्षा उत्तीर्ण करेगा तो दुलमुल, प्रपञ्च-प्रिय और अस्तव्यस्त व्यक्ति को ६ मास लग सकते हैं ।

आशा है पाठक गण अब स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि जिस प्रतीकोपासना को मृढ़ लोग पाषाण-पूजन बुतपरस्ती आदि नाम रखकर बद्नाम करते हैं वह किस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक = ( Psychological ) आध्यात्मिक अनुष्ठान है, जिसका यथाविधि अभ्यास करने से नर नारायण के सन्निधान में पहुंच जाता है । हम यहां यह भी प्रकट किये बिना इस प्रघट्ट को समाप्त नहीं करेंगे, कि पाठक पूर्वोक्त ध्यान-विधि के अनुसार स्वयं अभ्यास करके हमारे इस गुरु-गम्य मार्ग से अवश्य लाभान्वित होने का प्रयत्न करें । यदि इस राजमार्ग पर चलते हुवे कोई अङ्गचन अनुभव में आए तो किसी अभ्यासनिष्ठ महात्मा ने उसकी निवृत्ति का उपाय जानने का प्रयत्न करें ।

## शिवलिङ्ग शालिग्राम को हाथ पांव क्यों नहीं ?

प्रतीक कहे जाने वाली ये मूर्तियें भी विचित्र होती हैं; शिवलिङ्ग और शालिग्राम को हाथ-पांव ही नहीं ! गोलमोल अनगढ़ पत्थर ही रखलिये जाते हैं यह क्यों ?—

प्रतीक चार प्रकार के होते हैं यथा—( १ ) स्वयम्भू-विग्रह—अर्थात्—अपने आप प्रकट होने वाले ईश्वर कृत पदार्थ—जैसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी और दिव्य-नदी आदि २ (२) निर्गुण-विग्रह—जो भगवान् के निराकार निर्लेप निरञ्जनरूप के प्रतिनिधि माने जाते हैं जैसे शालिग्राम, शिवलिङ्ग, नर्मदेश्वर, शक्तिपिण्डी, मिट्टीपिण्ड या सुपारी विरचित गणेश आदि २ । (३) सगुण-विग्रह—सशङ्खचक्र चतुर्भुज विष्णु; पञ्चमुख शिव; सिंहवाहिनी-अष्टभुजी दुर्गा; लाक्षासिन्दूरवदन लन्बोदर गणेश आदि २ (४) अवतार-विग्रह—धनुषधारी राम, वंशी-विभूषित कृष्ण, 'मृगो न भीमः कुचरोगरीषः' नृसिंह आदि २ ।

सो स्वयम्भू-विग्रह तो जैसे भगवान् ने बनाए वैसे हैं ही । सगुण-विग्रह भी पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार शास्त्र में जैसे वर्णित हैं वैसे सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाए जाते हैं । अवतार-विग्रह का यथावत् बनाना स्वाभाविक है, परन्तु शिवलिङ्ग और शालिग्राम आदि प्रतिमाएं जब कि निराकार ही की प्रतीक हैं तब उनमें हाथ-पांव आदि की अङ्गों के अस्तित्व का प्रश्न ही निर्मूल है । इसलिये इनको 'मूर्ति' शब्द से स्मरण नहीं किया जाता । हस्त-पादादि-अङ्ग-विशिष्ट मूर्ति से इनका वैलक्षण्य प्रकट करने के लिये इनका नाम ही 'लिङ्ग' = अर्थात्—'लीन' और = छुपे व्याप शिव, गण पति, विष्णु भगवान् को 'ग' = प्रकट करने वाला

चिन्ह और 'शालि'—देव समूह का ग्राम—आवास स्थान रखा गया है। इसलिये निराकार के प्रतीक होने के कारण शिवलिङ्ग और शालिग्राम के हाथ-पांव आदि अङ्ग नहीं होते।

शालिग्राम समस्त ब्रह्माण्डभूत नारायण का प्रतीक है—यह स्कन्दपुराणोक्त कार्तिक-माहात्म्य में शिव भगवान् ने स्कन्द के प्रति कहा है यथा—

( क ) शालिग्रामशिलायां तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

मया सह महासेन ! लीनं तिष्ठति सर्वदा ।

( रणवीर भक्ति रत्नाकर )

( ख ) शालिग्रामं हरैश्चिन्हं प्रत्यहं पूजयेन्नरः ।

( २० भ० रत्नाकर-हेमाद्रौ दैवतः )

अर्थात्—( क ) हे देवसेनानी ! शालिग्राम की शिला में सचराचर तीनों लोक और स्वयं मैं भी सर्वदा लीन रहता हूँ।

( ख ) शालिग्राम विष्णु का चिन्ह है [ न तु मूर्ति ] मनुष्य को प्रतिदिन उसका पूजन करना चाहिये।

## गोल मटोल ही क्यों ?

यदि शिवलिङ्ग और शालिग्राम आदि निर्गुण ब्रह्म के विग्रह हैं तो किर गोल मटोल ही क्यों बनाए जाएं ? क्या निर्गुण ब्रह्म गोल मटोल है ?—

हम पीछे कह आए हैं, कि ईश्वर के अस्तित्व में सब से बड़ा प्रमाण यह प्रत्यक्ष-दृष्ट ब्रह्माण्ड है, क्योंकि जब कोई बुद्धिमान् पुरुष—'यत् यत् कार्यं तत्त्वकर्तुं जन्यम्'—अर्थात् जो २ भी कार्य है वह

वह किसी कर्ता का बनाया है ? नैय्यायिकों के इस सिद्धान्तानु-  
सार घटपटादि समस्त कार्यों के कर्ताओं को देखता है तो स्वभा-  
वतः उसे सूर्यो, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र आदि के भी कर्ता की  
जिज्ञासा होती है । जब बहुत ढूँढ़ने पर भी उक्त पदार्थों का कोई  
लौकिक पुरुष-विशेष कर्ता नहीं मिलता, तो अवश्य ही किसी  
अदृष्ट अलौकिक कर्ता का अनुसान करना पड़ता है । ऐसी स्थिति  
में यह ब्रह्माएङ्ड ही ब्रह्माएङ्डाधिनायक की सत्ता का प्रबल प्रमाण  
है । सो अण्ड-पिण्ड सिद्धान्त के अनुसार भगवान् का यह  
स्वयम्भू-देह-रूप ब्रह्माएङ्ड प्रत्यक्ष गोल अण्डाकार है । यही नहीं  
बल्कि सूर्य-चन्द्र पृथ्वी, आदि सभी पिण्ड गोल-मटोल बने हैं ।  
इसलिये भगवान् की आदिम स्वयम्भू प्रतिमा ब्रह्माएङ्ड के  
अनुसार ब्रह्माएङ्डाधिनायक भगवान् का निर्गुण विग्रह भी गोल  
ही होना मनोविज्ञान-सद्ध है ।

## तुलसी, जपा, करवीर विल्व और दूर्वा आदि का विधान क्यों ?

अन्यान्य पोड़श उपचारों की विद्यमानता में भी विष्णु पर  
तुलसी, सूर्य को जपा कुमुम, दुर्गा को कनियर और शिव पर  
विल्व तथा गणेश पर दूर्वा=दूब चढ़ाना ही अधिक आवश्यक  
क्यों ? बात यह है कि साधक जिस इच्छा से जिस देवता की  
उपासना करेगा तदनुसार ही आसन, माला, मन्त्र, पूजन-  
सामग्री आदि अन्यान्य उपकरण भी लेने आवश्यक होंगे । यदि  
मोक्ष के लिये सात्त्विक देव विष्णु भगवान् की उपासना करनी  
हो तो सात्त्विक-रंग—श्वेत ऊन का आसन, सात्त्विक-गुण-सम्पन्न  
तुलसी की माला, सात्त्विक-द्रव्य—कमल सकुंकुम श्वेत-चन्दन,

तुलसीपत्र आदि पूजन सामग्री का उपयोग करना चाहिये । इसी प्रकार आरोग्य के निमित्त सूर्य की उपासना में रक्त चन्दन, जपा कुमुम आदि सामग्री होनी चाहिये । यदि कोई विवाहार्थी दुर्गा पूजन करे तो उसे रजोगुणी लाल ऊर्णा का आसन, रजो-गुणी कनियर आदि के पुष्प, द्राक्षा नारिकेल आदि फल, पूजन सामग्री में सम्मिलित करना उचित है । आयुष्य-वृद्धि के निमित्त अशुतोष शङ्कर की उपासना करने वाले को आयुष्य वर्धक विल्वपत्र अर्क धतूर पुष्प रुदाक्ष माला त्यन्वकं का मन्त्र आदि सामग्री का सदुपयोग करना चाहिये । इसी प्रकार विन्न-निवृत्यर्थ गणेश का पूजन करते हुवे सदैव बनी रहने वाली माङ्गलिक द्रव्य दूर्वा का तथा सुन्दर मोदकों का उपहार भेंट करना चाहिये । भाव यप कि—जैसा देवता वैसी ही पूजा सामग्री होनी चाहिये, तभी तो लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है कि जब किसी गुंडे की पूजा करनी अनिवार्य हो जाए तो फिर 'नष्टदेव की भ्रष्टपूजा' सिद्धान्त का पालन करते हुवे 'लात वूँसा कमरमध्य लण्ठिका टकणाय च' प्रमाण के अनुसार पूजन सामग्री भी चप्पल सलीपर डण्डा सोटा ही होनी चाहिये ।

### अमुक देव पर अमुक द्रव्य क्यों नहीं ?

जैसे अमुक देव के लिये अमुक द्रव्य भेंट करना अत्यावश्यक समझा जाता है ठीक इसी प्रकार अमुक देव पर अमुक द्रव्य नहीं चढ़ाना यह भी व्यवस्था पाई जाती है, जैसे—

नादतैर्चयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम् ।

आरक्षैनार्चयेच्छ्रंभुं करवीराम्बुजैविना ॥

( रणवीर-भक्ति-रत्नाकर )

अर्थात्—विष्णु पर अक्षत, शिव पर केतकी पुष्प, तथा कनियर और कमल के अतिरिक्त अन्य लाल फूल न चढ़ाएं। इसी प्रकार विष्णु गणेश पर तुलसी आदि २—यह सब पोपलीला क्यों ?—

पर्याप्त समझाने पर भी 'फूले फरे न बेंत' की भान्ति क्यों के मरीजों को अब भी हमारी अमुक शास्त्रीय विज्ञान पूर्ण व्यवस्था में पोपलीला की गन्ध आती है। अन्यथा जब यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार के गुणकर्म स्वभाव का देवता हो वैसी ही उस देवता की पूजा की 'सामग्री होनी उचित है। फिर जब इसीसे आपाततः यह सिद्ध हो जाता है कि तद् विरुद्ध सामग्री नहीं होनी चाहिये फिर इसमें भी 'क्यों ?' का अड़ज्ञा लगाना अपनी 'अर्थापत्ति' सिद्धान्त न समझ सकने की अयोग्यता का ही परिचय देना ठहरा अस्तु जो द्रव्य जिस देवता पर न चढ़ाने की व्यवस्था है समझ लो कि वह द्रव्य अपेक्षित गुणों के विरुद्ध गुण रखता है, जैसे विवाह समयमें 'राम राम सत्य' और मृत्यु के समय 'मङ्गल गान', दुलहा को चार मनुष्यों के कन्धे पर रख्ती अर्था पर चढ़ाना और मृतक के शिर पर मौड़—सेहरा बान्धना।

ठीक इसी प्रकार मोक्षाधिष्ठाता देवोचित द्रव्य को प्रवृत्ति मार्ग परिष्कर्ता देव के ऊपर चढ़ाना और प्रवृत्तिमार्ग के अधिष्ठाता देवोचित द्रव्य को निवृत्तिमार्ग परिष्कर्ता देव के अर्पण करना एक प्रकार का उपासना का उपहास ही करना है, जो कथमपि सान्य नहीं हो सकता। सो शान्त रस के स्थायीभाव 'निवेद' को परिपुष्ट करने वाले परमाणु पुङ्ग से संघटित तुलसी पत्र को शृङ्गार रस के परिपोषक श्री गणेश देव पर चढ़ाना और प्रसाद समझकर साधक द्वारा निरन्तर उसका सेवन करना अन्ततो गत्वा

उद्देश्य के विरुद्ध ही सिद्ध होगा । इसी प्रकार चावल, जो कि विष्णु के प्रधान ब्रत एकादशी के उपवास में भी सर्वथा अग्राह्य माने जाते हैं—जिसका वैज्ञानिक विवेचन यथास्थान किया जाएगा—विष्णु के अर्पण नहीं किये जा सकते । इसी लक्षण अन्यान्य अनुलिखित तत्त्व वस्तुओं के सम्बन्ध में समान लेना चाहिये ।

### सौ की एक बात

उपासना के प्रायः सभी सम्भावित प्रश्नों पर विचार करने के अनन्तर, उपसंहार में हम पुनः पाठकों को शङ्काओं के अमोब प्रतिवज्र 'अरडपिएड-सिद्धान्त' का यहां स्मरण दिलाते हैं, जिससे सभी शङ्काओं का ज्ञानमात्र में अकाल्य समाधान हो जाएगा ।

### उपासना कैसे करें ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर है—'जीवात्मा की अर्थात् तुम्हारी उपासना कैसे करनी चाहिये ?'—मेरी पूजा-प्रतिष्ठा-उपासना तो मेरे जड़ शरीर की मार्फत होती है, जैसे कोई शिष्य गुरु की, सुयोग्य पुत्र माता पिता की सेवा सुश्रूपा करना चाहे तो वह उनके जड़ शरीर को स्नान कराएगा, वस्त्र पहिनाएगा, चन्दनादि द्रव्य से चर्चित करेगा, पुष्पमाला अर्पण करके सुन्दर आसन पर बिठलाएगा और फिर भोजन, जल, ताम्बूल आदि यथोचित द्रव्य प्रदान करेगा । कहना न होगा कि ये सब क्रियाएं स्थूल और जड़ शरीर पर प्रतिक्लित होंगी, परन्तु इन सब कृत्यों से प्रसन्न होगा गुरु पिता व माता का सूहम चेतन जीवात्मा ।

शरीर के चर्म पर जल पड़ने से चेतन बोल उठता है 'स्नातोहम्'; चर्मावनद्ध अस्थिपञ्जर के गले में फूलमाला पड़ते ही सभी को यह भान होता है 'सत्कृतोऽहम्'; सो 'अण्ड-पिण्डवाद' के अनु-सार यह सर्वथा अखण्डनीय सिद्धान्त स्थिर होगया कि जैसे—मानव पिण्डस्थ चेतन जीव के सत्कार के लिये स्थूल और जड़ मानवपिण्ड पर ही सब क्रियाएं करनी पड़ती हैं, परन्तु उनसे प्रसन्नता अनुभव करता है पिण्डाभिमानी सूक्ष्म चेतन जीव ! बस ! ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड व्यापक चेतन परमात्मा की पूजा प्रतिष्ठा, सम्मान और सत्कार के लिये भी सब क्रियाएं जड़ और स्थूल तत्त्व ब्रह्माण्डस्थ वस्तुओं पर ही करनी अनिवार्य है, परन्तु उनसे भी प्रसन्न होगा ब्रह्माण्डाभिमानी चेतन सूक्ष्म भगवान् ।

## किसपर क्या चढ़ाएं क्या न चढ़ाएं—क्यों ?

हम यह कह आए हैं कि ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीर है, पृथ्वी आदि सब पदार्थ विराट् के अमुक २ अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं सो जैसे हमारे जिस अङ्ग के योग्य जो द्रव्य होता है वह द्रव्य उसी अङ्ग के अर्पण किया जाता है; जैसे—पांव में चरणपादुका, कटि में धौत वस्त्र, कन्धे पर दुपट्टा शिर पर टोपी या पगड़ी, और हाथ में लाठी । उक्त द्रव्यों को अंग व्यवस्था के विरुद्ध शिर पर खड़ाँ, कटि में चोगा, कन्धों पर टोपी और मूँद पर लाठी—इस प्रकार अर्पण करने वाला व्यक्ति न केवल मूर्ख अपितु पूज्य व्यक्ति का अपमान करने वाला भी माना जाएगा । ठीक इसी प्रकार विराट् के चक्ररूप सूर्यको अर्द्ध, मुख=अग्नि में आहुति और अमुक देवप्रतिमा पर अमुकद्रव्य आदि जैसी भी शास्त्रकी वैज्ञानिक

व्यवस्था है उसके विपरीत गड़बड़ी करना वैसा ही है, जैसे कि कोई फूहड़ नायिका आँखों में महावर और ओठों पर काजल पोत कर सूर्पनखा बनने का प्रयत्न करे ।

## आरती में सृष्टि-प्रक्रिया

मन्दिरों में देखा जाता है कि आरती के समय शंख फूँकते हैं, ज्योति धुमाते हैं, यह सब क्यों?—वस्तुतः आरती सृष्टि-प्रक्रिया का एक विज्ञान पूर्ण अभिनय है, जिसमें भक्तों को कौन तत्त्व कैसे बना और उन तत्त्वों का अनुक्रम तथा व्युत्क्रम क्या है—यह अतीव गम्भीर रहस्य सुतरां बता दिया जाता है। यद्यपि दुर्भाग्यवश आजकल यह तत्त्व जब पुजारी ही नहीं जानते तब दर्शकों को बताए कौन? दूसरे सम्प्रदायों में पादरी और मुल्ला वही लोग रखते जाते हैं, जो कि बाइबिल चर्च के ज्ञाता और कुरान के हाफिज हों! परन्तु सनातनधर्म में आजकल प्रायः पुजारी पद पर वही निरे निठले सस्ते प्राप्य और अक्षर-शून्य व्यक्ति रखते जाते हैं, जो कि अन्य कुछ काम करके अपना पेट भरने में सर्वथा असमर्थ हों। सनातनधर्म जितना वैज्ञानिक और वास्तविकता पर स्थिर है, इसके अधिकांश कथित अनुयायी उतने ही रहस्य से कोशों दूर और गड्ढलिका-प्रवाह-पतित हैं, इसीलिये साक्षर व्यक्ति पुजारी बनने में अपमान सा अनुभव करते हैं। वस्तुतः इस पद पर अधिक से अधिक योग्य विद्वान् को अभिषिक्त करना चाहिये, और विद्वानों को भी उक्त पद को हीन न समझ कर जनता का उपकार करना चाहिये। अस्तु, पाठक अब जरा वेदोक्त सृष्टि-प्रक्रिया पर ध्यान दें, वेद कहता है कि:—

आत्मनः सकाशात् आकाशः सम्भूत आकाशाद् वायुः  
वायोरग्निरग्नेरापोऽदभ्यः पृथिवी । ( छान्दोग्य उपनिषद् )

अर्थात्—आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई ।

आरती में भी पड़दा खुलते ही साधक सर्व प्रथम भगवान् को देखता है, फिर प्रथम तत्त्व शब्दगुणक आकाश के प्रतीक शब्द को फुंकारा जाता है, फिर दूसरे तत्त्व=वायुका प्रतीक चँवर दुलता है या वस्त्र से ही इस क्रिया का प्रदर्शन होता है, पुनः तीसरे तत्त्व=अग्नि, धूप से आरती होती है, इसके अनन्तर चौथे तत्त्व=जल का प्रदर्शन कुंभारती के रूपमें होता है, अन्तमें पांचवें तत्त्व=पृथिवी का प्रदर्शन अर्चक अपनी अंगुष्ठादि अंगों द्वारा मुद्राएं दिखाता हुआ करता है । यह सृष्टि-प्रक्रिया का दार्शनिक अभिनय हुआ ।

दार्शनिक सिद्धान्त है कि—जिस क्रम से ये तत्त्व उत्पन्न होते हैं उसी विलोम क्रम से एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं, और अन्तमें वही एक आत्मतत्त्व शेष रह जाता है । सो आरतीमें भी पूर्वोक्त अनुक्रम दिखाने के अनन्तर फिर व्युत्कम आरम्भ होता है, पुनः प्रथम मुद्राएं इसके बाद जल पूरित शंखभ्रमण, तदनन्तर दीप आरती, चौथे नम्बर पर वही चमर अथवा वस्त्र प्रदर्शन और अन्त में शंख का जल दर्शक भक्तों पर छिड़क कर खाली शंख प्रदर्शन और सब कुछ हो जाने पर वही एकमात्र भगवान् के दर्शन ।

हो सकता है बहुत से पुजारी इस क्रम से अपरिचित होने के कारण अमुक कार्य को आगे पीछे भी कर डालते हों, परन्तु

वस्तुतः आरती का शास्त्रीय रूप यही है जो हमने प्रकट किया है। न्यूनाधिक शंख, वस्त्र, दीप, जलसिंचन और मुद्रा नहीं तो हाथ जोड़ना ये मोटी २ पांच क्रियाएं तो प्रायः सर्वत्र होती हैं, सो पाठक इनका सृष्टिक्रम की दृष्टि से मनन कर सकते हैं।

## शङ्ख बजाने से क्या लाभ ?

हिन्दूजन पूजा, आरती कथा वार्ता आदि धार्मिक अनुष्ठानों में शंख अवश्य फूंकते हैं इससे क्या लाभ ?

(क) शंखेन हत्वा रक्षांसि ( अर्थर्व० ४। १०। २ )

(ख) अवरस्पराय शङ्खध्वम् ( यजु० ३०। १६ )

(ग) यस्तु शङ्खध्वनिं कुर्यात्पूजाकाले विशेषतः ।

विमुक्तः सर्वपापेन विष्णुना सह मोदते ॥

( रणवीर भक्ति-रत्नाकर स्कान्दे )

अर्थात्—(क) शंख से सब राक्षस मारकर, (ख) शत्रुओं का हृदय दहलाने के लिये शंख फूंकने वाला व्यक्ति अपेक्षित है। (ग) पूजा के समय विशेषतः जो पुरुष शंख ध्वनि करता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, और विष्णु भगवान् के साथ आनन्द करता है। श्री जगदीशचन्द्र वसु जैसे भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने यन्त्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि एकवार शंख फूंकने पर जहां तक उसकी ध्वनि जाती है वहां तक अनेक बीमारियों के कीटाणुओं के हृदय दहल जाते हैं, और वे मूर्छित हो जाते हैं। यदि निरन्तर यह क्रिया चालू रखती जाए तो फिर वहां का वायुमण्डल तादृश कीटाणुओं से सर्वथा उन्मुक्त हो जाता है।

यह सभी विज्ञानवेत्ता मानते हैं कि शब्द की प्रगति में सूर्य किरणें बाधक सिद्ध होती हैं। इसीलिये हमारे यहां प्रातः सायं ही प्रायः शंख फूँ का जाता है, जिससे कि शंख घोष से पूरा लाभ उठाया जा सके। मूकता और हकलापन दूर करने के लिये निरन्तर शंख फूँ कने वाले व्यक्ति को कभी फुफक्स (फेफड़ों) का रोग नहीं हो सकता। दमा, ऊरुक्त, कास, छर्दी, प्लीहा, यकृत और इन्फ्लूंजा जैसे रोगों के पूर्वरूप में शंखध्वनि लाभप्रद है। इस लिये देवमन्दिर, कथाभवन आदि स्थानों में जहां मनुष्यों का अधिक जमाव होता हो, और उनके मुख से निकलने वाले श्वास से वायुमण्डल दूषित होने का पर्याप्त अवसर हो ऐसे स्थानों में शंख बजाकर प्रथम ही वायुमण्डल को विशुद्ध बनाना बहुत लाभप्रद है।

## शङ्ख का जल क्यों छिड़का जाए ?

अभी नीराजन आरती के प्रसंग में शंख में जल भरकर दर्शकों पर छिड़कने का उल्लेख किया गया है यह क्यों ?

ब्रह्मवैर्त पुराण में लिखा है कि:—

जलेनापूर्य शंखे च तत्र संस्थापयेद् बुधः ।

पूजोपकरणं तेन, जलेन क्वालयेत्पुनः ॥

( ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड २६ । ६७ )

अर्थात्—शंख में जल भरकर देवस्थान में रक्खे, पुनः उससे समस्त पूजा सामग्री का प्रक्षालन करे ।

‘वस्तु वैचित्र्यवाद’ के अनुसार शंखस्थ जल और वह भी विष्णु भगवान् की प्रतिमा के सामने उपहृत परम पवित्र माना गया है। अर्थर्ववेद में शंख को मणि नाम से स्मरण किया है और इसकी महिमा के वर्णन में पूरा एक सूक्त भरा है। पात्र के संयोगसे अमुक वस्तु भी उसके गुणोंसे प्रभावित हो जाती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, जैसे पीतलके वर्तन में मट्ठा विकृत हो जाता है, कांसे और ताम्बे के वर्तन में भी घृत आदि द्रव्य बिगड़ जाते हैं, इसी प्रकार अमुक पात्र में तत्त्व वस्तुवें तदगुण-सम्पन्न हो जानी स्वाभाविक हैं। सो शंखस्थ पावक गुणोंसे अन्यान्य वस्तुओं और दर्शकों को भी लाभान्वित कैसे किया जाए—इसका सहज उपाय यही हो सकता है कि तत्संयुक्त जल में शंख के गुणों का आधान करके फिर उसे सर्वत्र वितरण किया जाए। इस क्रिया में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जल में डाले हुए द्रव्यों की विशेषता सौ गुणी हो जाती है, यह हम ‘वस्तु वैचित्र्यवाद’ प्रघट्ट में सिद्ध कर आये हैं। सो शंखस्थ जल के सेचन से संस्पृष्ट समस्त वस्तुजात विशुद्ध हो जाती है। सगर्भा स्त्री यदि शंखस्थ जल द्वारा स्नात शालिग्राम शिला का चरणमृत पान करे तो अन्यान्य लाभों के साथ उससे प्रसूत बालक कभी मूँक नहीं हो सकता। रुक-रुककर बोलनेवाले हकले व्यक्ति पर तो हमने शंखजल पान का स्वयं प्रयोग करके देखा है। पाठक स्वयं भी अनुभव कर सकते हैं। धैर्य और नैरन्तर्य की आवश्यकता है, लाभ अवश्य होगा।

**आरती कितनी बार और क्यों घुमानी ?**

आरती केवल अन्धकार में बैठे भगवान् की प्रतिमा को

भक्तों को दिखाने मात्र को नहीं की जाती, क्योंकि झाड़ फानूस और बिजली के प्रखर प्रकाश की विद्यमानता में भी टिमटिमाता दीपक लेकर निरन्तर आरती की ही जाती है। अतः यह एक शास्त्रीय विधान है जिसे दुर्भाग्यवश आज प्रायः पुजारी भी नहीं जानते कि दीपक को बाएं से दाएं और दाएं से बाएं किधर क्या, कितनी बार, घुमाना आवश्यक है ?

इसका वास्तविक रहस्य 'भावनावाद' सिद्धान्त के अनुसार यह है कि जिस देवता की आरती करने चले उसी देवता का बीज-मन्त्र स्नान-स्थाली, नीराजन स्थाली, घण्टिका और जल कमरडलू आदि पात्रों पर चन्दनादि से लिखना चाहिये और फिर आरती के द्वारा भी उसी बीजमन्त्र को देवप्रतिमा के सामने बनाना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति तत्त्व देवताओं के विभिन्न बीजमन्त्रों का ज्ञान न रखता हो तो सर्ववेदों के बीजभूत प्रणव=ॐकार को ही लिखना चाहिये, अर्थात् आरती को ऐसे घुमाना चाहिये जिससे कि 'ॐ वर्ण' की आकृति उस दीपक द्वारा बन जाए।

कितनी बार घुमाना ? इसका रहस्य यह है कि शास्त्र में जिस देव की जितनी संख्या लिखी हो उतनी ही बार आरती घुमानी चाहिये। जैसे विष्णु, आदित्यों में परिगणित होने के कारण द्वादशात्मा माने गये हैं, इसीलिये उनकी तिथि भी द्वादशी है और महामन्त्र भी द्वादशाक्षर है अतः विष्णु की आरती में बारह आवर्तन आवश्यक हैं। सूर्य सप्तरश्मी है, सात रंग की विभिन्न सात किरणों वाले, सात घोड़ों से युक्त रथ में बैठा है। सप्तमी तिथि का अधिष्ठाता है। अतः सूर्य आरती में सात बार बीजमन्त्र का उद्धार करना आवश्यक है। दुर्गा की नव संख्या प्रसिद्ध है,

नवमी तिथि है नव आकर का ही नवार्ण मन्त्र है, अतः नौ बार आवर्तन होना चाहिये । रुद्र एकादश है, अथवा शिव, चतुर्दशी तिथि के अधिष्ठाता हैं, अतः ११ या १४ आवर्तन आवश्यक हैं । गणेश चतुर्थी तिथि के अधिष्ठाता हैं, इसलिये चार आवर्तन होने चाहिये । इसी प्रकार मन्त्र संख्या या तिथि आदि के अनुरोध से अन्यान्य देवताओं के लिये भी कल्पना कर लेनी चाहिये । अथवा सभी देवताओं के लिये सात बार भी साधारणतया किया जा सकता है । जिसमें चरणों में चार बार, नाभि में दो बार और मुख पर दो बार ।

## आरती लेनी क्यों चाहिये ?

भगवान् की आरती हो जाने के बाद सब भक्त उस ज्योति: पर हाथ धुमाकर अपने २ मुख पर लगाते हैं यह क्यों ?  
शास्त्र में लिखा है कि—

(क) यथैवोर्ध्वगतिं नित्यं राजन् ! दीपशिखा शुभा ।

दीपदातुस्तथैवोर्ध्व-गतिर्भवति शोभना ॥

( रणवीर भक्तिरत्नाकर विष्णुधर्मोत्तरे )

(ख) नीराजनबलिर्विष्णोर्यस्य गात्राणि संस्पृशेत् ।

यज्ञलक्षसहस्राणां लभते स्नानजं फलम् ॥

( रणवीर भक्तिरत्नाकर भविष्यत् )

अर्थात्—(क) हे राजन् ! जैसे दीपक की लौ नित्य ऊपर को ही जाती है, इसी प्रकार दीप-दान=आरती करने वाले भक्त को भी उर्ध्वगति प्राप्त होती है । (ख) भगवान् की ज्योति: आरती